श्री सोलहकारण धर्म-दीपक

[सोलहकारण व्रत महिमा, सवैया और व्रतकथा सहित]

लेखक :—

स्व० धर्मरत्न पं० दीपचंदजी वर्णी

प्रकाशक :—

शैलेश डाह्याभाई कापड़िया

दिगम्बर जैन पुस्तकालय,

कापड़िया भवन, गांधीचौक-सूरत।

पांचवी बार] वीर सं० २५१३ [प्रति १५००

"जैन विजय" प्रिन्टिंग प्रेस-सूरतमें शैलेश डाह्याभाई कापड़ियाने मुद्रित किया।

※

मूल्य-१०-००

प्रस्तावना

तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करनेवाले श्री सोलहकारण व्रतकी १६ भावनाओंके विशद वर्णनकी यह पुस्तक हमने वीर संवत् २४५२ (आजसे ३६ वर्ष पहले) श्री प. दीपचंदजी परवार वर्णी नरसिंहपुर निवासीके लिखवाकर "दिगम्बर जैन" की भेंटमें प्रकट की थी, वह इतनी लोकप्रिय हुई कि उसकी दूसरी आवृत्ति वीर संवत् २४७१ में निकालना पड़ा था। वह कुछ ही महिनोंमें खतम हो जानेसे वीर संवत् २४६१ में तिसरी आवृत्ति प्रकट की गई थी यह भी पुरी हो जानेसे यह चोथी आवृत्ति वीर संवत २४७८ में प्रगट की थी, वह बीक जाने पर पांचवी आवृत्ति प्रगट की जाती है।

इस पुस्तकमें "सोलहकारण धर्म" के साथ सोलहकारण महिमा सवैया व व्रतकथा भी शामिल की गई है। अतः सोलहकारण व्रत करनेवालोंको व सोलहकारण धर्मका स्वरूप जाननेवालोंको यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी हो सकेगी।

हमारे भाई बहिन सोलहकारण व्रतके प्रोषधोपवास करते हैं उसके उत्सवमें प्रभावनामें यह पुस्तक अवश्य बांटनी चाहिये। स्वाध्यायके लिये भी यह पुस्तक उपयोगी होगी, अतः सोलहकारण व्रतके दिनोंमें तो इसका पठनपाठन होना आवश्यक है।

इस पुस्तकके मुखपृष्ठपर "सोलहकारण धर्म-दीपक" नामक चित्र भी बनाकर रख दिया है। जिसमें दीपक रखकर सोलह धर्मोंके नाम बता दिये हैं।

आशा है इस पांचवी आवृत्तिका भी शीघ्र ही प्रचार हो जायगा।

सूरत,
वीर संवत २४९३
वैशाख सुदी ३
ता. १-५-६६

निवेदकः—
स्व. मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
शैलेश डाह्याभाई कापड़िया
— प्रकाशक

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

सोलहकारण धर्म।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण-
ज्ञानोपयोगसम्वेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैया-
वृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरि-
हाणिमार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥२४॥
(इति तत्वार्थसूत्र अ० ६)

अर्थ—दर्शनविशुद्धि[1], विनयसम्पन्नता[2], शीलव्रतेषु अनतिचार[3], अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग[4], सम्वेग[5], शक्तितःत्याग[6], तप[7], साधुसमाधि[8], वैयावृत्यकरण[9], अर्हंदभक्ति[10], आचार्यभक्ति[11], उपाध्यायभक्ति[12], प्रवचनभक्ति[13], आवश्यकापरिहाणि[14], मार्गप्रभावना[15], प्रवचनवत्सलत्व[16] ये सोलहकारण भावनायें हैं। इनको धारण करने तथा बार बार चितवन करनेसे सर्वोत्कृष्ट ऐसी तीर्थङ्कर प्रकृतिका आस्रव तथा बन्ध होता है।

भावार्थ—आस्रव दो प्रकारका होता है-भावास्रव और द्रव्यास्रव। आत्माके चैतन्य गुणके रागद्वेष रूप विभाग परिणमनको भावास्रव कहते हैं। और उन आत्माके विभाव स्वभावका निमित्त पाकर जो पुद्गल वर्गणाएं कर्मरूपसे ग्रहण होती हैं उसे द्रव्यास्रव कहते हैं। सो ये दोनों आस्रव भी

दो प्रकारके होते हैं-(१) शुभ (२) अशुभ । शुभास्रवको पुण्य, अशुभ स्रवको पाप कहते हैं । तात्पर्य-जीवके रागद्वेषादि रूप द्रव्यकर्मोंके परमाणुओंका आत्माकी ओर आना सो आस्रव कहलाता है ।

इन द्रव्यकर्मोंके घाति अघाति रूपसे दो भेद हैं । ज्ञानावरण (ज्ञानको न प्रगट होने देनेवाला), दर्शनावरण (देखनेकी शक्तिको रोकनेवाला), अंतराय (आत्मोपकारी कारणोंमें विघ्न करनेवाला) और मोहनी (स्वस्वरूपसे भिन्न प्रवृत्ति करनेवाला) ये चारों घातिकर्म कहे जाते हैं । क्योंकि ये आत्माके स्वरूपका घात करनेवाले हैं, इसलिये ये चारों तो अशुभ (पाप) ही हैं क्योंकि ये जीवके गुणोंको घातते अर्थात् आच्छादित करते हैं । इस कारण जीव अचेतसा हो जाता है ।

और आयु (किसी भी गतिमें किसी नियत कालतक स्थिर रखनेवाला), नाम (अनेक प्रकारके आकार, प्रकार, रूप, गति आदिको प्राप्त करानेवाला), गोत्र (ऊंच नीचकी कल्पना करानेवाला और वेदनी (सुखदुखरूप सामग्री मिलानेवाला) ये चारों कर्म अघाति कहे जाते हैं । क्योंकि ये बाह्य कारण स्वरूप ही हैं । क्योंकि ये घाति कर्मोंके अभाव होते हुये आत्माका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते हैं । ये पुण्यरूप (शुभ) और पापरूप (अशुभ) दोनों प्रकारके होते हैं । अर्थात् इनकी कितनी प्रकृतियां पुण्यरूप हैं और कितनी पापरूप हैं । इन पुण्य प्रकृतियोंमें सबसे उत्तम नामकर्मकी तीर्थङ्कर प्रकृति है । अर्थात् त्रैलोक्यमें तीर्थङ्करके समान किसीका भी पुण्य तीव्र नहीं होता है ।

देव देवेन्द्र, नर नरेन्द्र, खग खगेन्द्र, पशु पश्वेन्द्र आदि सब ही तीर्थङ्कर भगवानके सेवक होते हैं । और जिस भवमें

तीर्थंकर प्रकृतिका उदय होता है, उसी भवमें यह जीव सम्पूर्ण घाति अघाति कर्मोंका नाश कर सिद्धपद (निर्वाण) को प्राप्त होता है। इसलिये यह तीर्थंकर प्रकृति सर्वथा उपादेय (प्राप्त करने योग्य) है।

सो जब कोई जीव उपर्युक्त सोलह भावनाएं, किसी केवली तथा श्रुत केवलीके निकट प्राप्त होकर भाता है और निरन्तर इनका विचार करके तन्मयी हो जाता है तब उसका तीर्थंकर प्रकृतिका आस्रव तथा बंध होता है। इसलिये यहां उन्हीं परम पुण्यकी कारण सोलह भावनाओंका स्वरूप विशेष रूपसे वर्णन किया जाता है।

सबसे प्रथम और मुख्य भावना दर्शनविशुद्धि है। क्योंकि दर्शन (सम्यक्‌दर्शन या सम्यक्त) की शुद्धता बिना शेष भावनाएं कार्यकारी नहीं हो सकती हैं। कहा है।—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥ ३१ ॥
विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ ३२ ॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार अ० १)

अर्थात्—ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन ही मुख्यतया उपासना की जाती है। क्योंकि वह मोक्षमार्गमें खेवटियाके समान कहा जाता है। जैसे बीजके बिना वृक्षकी स्थिति, वृद्धि और फल आदिकी संभावना ही नहीं होती है उसी प्रकार सम्यक्त्वके बिना ज्ञान और चारित्रकी स्थिति वृद्धि और फलदातृत्वकी संभावना ही नहीं होती है। इसलिये सबसे प्रथम दर्शनविशुद्धि भावनाको ही कहते हैं।

( ) दर्शनविशुद्धि ।

आत्मा (जीव) का वह गुण, जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व इन सात कर्मकी प्रकृतियोंके उपशम व क्षयोपशम व क्षय होनेसे प्रगट होता है उसे सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन गुण कहते हैं।

यह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका होता है— निश्चय और व्यवहार ।

निश्चय सम्यग्दर्शन सत्यार्थ स्वरूप अर्थात् पुद्गलादि पर-द्रव्योंसे भिन्न निज शुद्ध स्वरूपका श्रद्धान होनेको कहते हैं। ऐसा ही कविवर पण्डित दौलतरामजीने छहढालामें कहा है—

परद्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है ।

व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनके कारण जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वोंके तथा इन (तत्त्वों) के प्ररूपण करनेवाले सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र (धर्म) के श्रद्धानको कहते हैं ।

यहां पर कारणमें कार्यका आरोपण करके (उपचारसे) यह कथन किया जाता है ।

व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप भगवान उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ में इसी प्रकार कहा है—

तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

अर्थ—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सातों तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

और पंडित मेधावीजीने निम्न प्रकार कहा है—

आप्तान्यो न देवोस्ति धर्मस्तद्भाषिताद्धि ।
निर्ग्रन्थाद्गुरवोऽन्ये न श्रद्धानमिति दर्शनम् ॥ २५ ॥
(धर्म संग्रह श्रावकाचार अ० ४)

अर्थ— आप्त (सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशीपनेको धारण करनेवाले देव) और आप्तहीका कहा हुआ धर्म (जिनधर्म) तथा निग्रन्थ गुरु (सब प्रकारके बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे रहित वीतराग मार्ग पर चलनेवाले) के सिवाय अन्य रागी द्वेषी देव, हिंसामई विषय कषायोंको पुष्ट करनेवाले धर्म, और भेषी या सपरिग्रही गुरुओंको कल्याणकारी नहीं मानना । अर्थात् सत्यार्थ देव गुरु और धर्मका पक्का श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन है ।

इसी प्रकार भिन्न भिन्न आचार्योंने सम्यग्दर्शनका स्वरूप कार्य, कारण व निश्चय व्यवहारकी मुख्यता तथा गौणतासे भिन्न२ प्रकार कहा है । परन्तु तात्पर्य सबका एक ही है । अर्थात् स्वस्वरूपके श्रद्धान होने (भेद विज्ञानको प्राप्त होने) के लिये जीवादि तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान होना परम आवश्यक है । और इन (जीवादि तत्वोंके श्रद्धान करानेके लिये उनके कथन करनेवाले आप्त (देव), आगम (धर्म) और गुरुका श्रद्धान होना आवश्यक है, इसलिये कारणमें कार्यका आरोपण करके यह कहा गया है । क्योंकि देव, गुरु, धर्मके श्रद्धानसे जीवादि तत्वोंका श्रद्धान होता है । और जीवादि तत्वोंके श्रद्धानसे निज स्वरूपका श्रद्धान होता है । निज स्वरूपका श्रद्धा होना ही सम्यग्दर्शन होने रूप कार्य है । और शेष दोनों लक्षण उत्तरोत्तर कारण स्वरूप तथा कारणके कारण स्वरूप

है इसलिये व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है।

जीवादि तत्वोंका विवेचन द्रव्यसंग्रह, गोमटसार, सर्वार्थ-सिद्धि आदि ग्रन्थोंमें विशेष रूपसे किया गया है, परन्तु संक्षिप्त रूपसे यहां भी कुछ कहते हैं—

तत्त्व—पदार्थके यथार्थ स्वरूपको कहते हैं। सो पदार्थको उसके यथार्थ स्वरूप सहित दृढ़ श्रद्धान करना, यही तत्वार्थ श्रद्धान है। तत्वको पदार्थ द्रव्य वस्तु इत्यादि अनेक नामोंसे पुकारते हैं।

तत्त्व—मुख्यतया दो प्रकारके हैं-जीव और अजीव।

जीव—उसे कहते हैं जो दर्शनज्ञान संयुक्त चैतन्य पदार्थ हो। यह जीव लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी अविनाशी अमूर्तीक अखंड अनन्तानन्त है। उनमें जो जीव सम्पूर्ण कर्मोंको नाशकर मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं वे सिद्ध जीव कहलाते हैं। वे संसार परिभ्रमणसे रहित स्वस्वरूपमें लीन हुए लोकशिखरके अन्त तनुवातवलयमें नित्य शुद्ध परमात्म स्वरूपसे तिष्ठे हैं। और जो जीव कर्म सहित हैं, वे संसारमें देव, नरक, पशु और मनुष्य आदि चतुर्गतियोंमें नानारूप धरते हुवे, स्व-स्वरूपको भूले हुए परिभ्रमण करते हैं। ये संसारी जीव कहाते हैं वही संसारी जीव कर्मोंका नाशकर सिद्ध (परमात्मा) पद प्राप्त करते व कर सकते हैं।

अजीव—उसे कहते हैं जो चैतन्यता रहित अर्थात् जड़ हो। उसके छः भेद हैं अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। अजीव दो प्रकारके होते हैं-मूर्तीक और अमूर्तीक। मूर्तीक (रूपी) जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण सहित हो। इसे पुद्गल द्रव्य भी कहते हैं। यह अणु और स्कंध रूपसे

१—देखो विश्व तत्त्व चार्ट नं० १।

दो प्रकारका होता है ।

अणु—पुद्गलका वह छोटेसे छोटा भाग है, कि जिसका दुसरा भाग न हो सके ।

स्कंध-- दो आदि संख्यात, असंख्यात तथा अनंत अणुओंके एक बंधानरूप पिण्डको कहते हैं। पुद्गल द्रव्य भी लोकमें अनन्तानन्त हैं ।

अमूर्तीक—जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण रहित हों ।

ये चार प्रकारके होते हैं- धर्म, अधर्म, काल और आकाश ।

धर्म द्रव्य—जो पदार्थ जीव और पुद्गलको चलनेमें उदासीन रूपसे सहकारी कारण मात्र हो, प्रेरक न हो, जैसे मछलीको पानी । वह समस्त लोकाकाशमें व्याप्त अखंड असंख्यातप्रदेशी एक ही द्रव्य है ।

अधर्म द्रव्य—जो पदार्थ जीव पुद्गलको स्थिर रहनेमें उदासीन रूपसे सहकारी कारण मात्र हो प्रेरक न हो । जैसे पथिकको वृक्षकी शीतल छाया । यह द्रव्य भी धर्मद्रव्यके समान समस्त लोकाकाशमें व्याप्त अखंड असंख्यातप्रदेशी एक ही द्रव्य है ।

काल द्रव्य—वह पदार्थ है (कोई कोई श्वेताम्बरादि आचार्य कालको द्रव्य उपचारसे मानते हैं) जो पदार्थोंकी अवस्था बदलनेमें उदासीन रूपसे निमित्त कारण हो । यह असंख्यात कालाणु रूप द्रव्य रत्नोंकी राशिके समान पृथक पृथक समस्त लोकाकाशमें भर रहा है । सो यह निश्चय और व्यवहार दो प्रकारका होता है ।

निश्चय काल—केवल वर्तमानरूप है । इसके असंख्यात प्रदेश परस्पर एक दुसरेसे भिन्न हैं जो कभी नहीं मिलते हैं, इसीसे इसको अकाय भी कहते हैं ।

व्यवहार काल— घड़ी घंटा दिवस आदिकी कल्पना रूप है जो निश्चय कालकी समयरूप पर्यायसे उत्पन्न होता है। एक पुद्गलका परमाणु जब मंदगतिसे एक कालाणु अन्य कालाणु पर जाता है और उसके जानेमें जो समय लगता है उसे एक समय कहते हैं। जैसे पुद्गल परमाणु कालका अणु (कालाणु) और आकाशका प्रदेश सबसे छोटा होता है, उसी प्रकार समय भी सबसे छोटा कालका विभाग है। ऐसे अनन्त समयोंकी १ आवली घड़ी घंटा दिवस पक्ष मास वर्ष युग युगांतर आदिकी कल्पना की जाती है।

आकाश द्रव्य—वह पदार्थ है जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल आदि द्रव्योंको अवगाहना (स्थान) दे। यह भी दो प्रकार है- लोकाकाश और अलोकाकाश।

लोकाकाश—जहां उक्त जीवादि पांच द्रव्य पाए जावें।

अलोकाकाश—जहां पर केवल आकाश मात्र ही हो। इसी अनन्त अलोकाकाशके मध्यमें असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश है। यह भी अखण्ड एक द्रव्य है।

आस्रव—जीवके रागद्वेषादि चैतन्य विभाग भावोंके द्वारा योगोंकी प्रवृत्तिके होनेसे पुद्गल (द्रव्य) कर्म परमाणुओंका जीवकी ओर आना। यह शुभ और अशुभ दो प्रकारका होता है।

शुभ अर्थात् पुण्य और अशुभ अर्थात् पाप।

बन्ध—योग और कषायोंके निमित्तसे जीव और पुद्गल कर्म परमाणुओंका एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होना सो आस्रवके भेदके यह शुभाशुभ दो भेदरूप होते हैं।

संवर—आते हुये कर्म परमाणुओंको योगोंका निरोध-

करके आनेसे रोकना । यह भी आस्रव तथा बंधकी तरह दो प्रकारका है ।

निर्जरा—पूर्व कालके बंधे हुए कर्म परमाणुओंका सम्बन्ध क्रमक्रमसे तपश्चरणादिके द्वारा आत्मासे छुड़ाना ।

मोक्ष—बंधे हुए सम्पूर्ण द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्मोंका जीवसे सर्वथा सदाके लिये सम्बन्ध छूट जाना ।

इस प्रकार संक्षेपसे तत्त्वोंका स्वरूप कहकर अब देव, धर्म और गुरुका स्वरूप कहते हैं—

सत्यार्थ देवका स्वरूप—

> आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
> भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ ५ ॥
> क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।
> न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ६ ॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार अ० १)

अर्थ—नियमसे जो वीतरागी अर्थात् क्षुधा[1], तृषा[2], बुढ़ापा[3], रोग[4], जन्म[5], मरण[6], भय[7], गर्व[8], राग[9], द्वेष[10] मोह[11] चिन्ता[12], रति[13], अरति[14], स्वेद[15], खेद[16] निद्रा[17], और आश्चर्य[18], इत्यादि दोषोंसे रहित, सर्वज्ञ अर्थात् अलोक सहित तीनों लोकके समस्त पदार्थोंको उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित एक ही समयमें जाननेवाला और हितोपदेशी अर्थात् वस्तु स्वरूपका यथार्थ कथन करनेवाला ही आप्त (देव) होता है । अन्यथा देवपना नहीं हो सकता है ।

सत्यार्थ गुरुका स्वरूप—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार अ० १)

अर्थ—जो पांचों इन्द्रियोंके विषयोंकी आशाके वशसे रहित हो, आरम्भ रहित हो, दश प्रकार बाह्य (क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड) और चौदह प्रकार अन्तरङ्ग (मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) परिग्रहोंसे रहित हो । ज्ञान (सम्यग्ज्ञान), ध्यान (धर्म या शुक्लध्यान) तप (अनशन, ऊनोदर-अवमोदर्य, व्रतपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश अर्थात् परिषह तथा उपसर्ग सहन करना ये ६ प्रकार बाह्य तप और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान ये छः अभ्यन्तर तप, इस प्रकार तपश्चरणमें) लवलीन हो वह तपस्वी अर्थात् गुरु प्रशंसा करने योग्य है ।

सत्यार्थ शास्त्र (धर्म) का स्वरूप—

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार अ० १)

अर्थ—जो आप्तका कहा हुआ हो, वादी प्रतिवादियों द्वारा खंडन न किया जा सके, प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणोंसे विरोध रहित हो, पूर्वापर दोष रहित हो, वस्तुस्वरूपका उपदेश करनेवाला हो, सब जीवोंका हितकारक हो और मिथ्यामार्गको खंडन करनेवाला हो, सो ही सत्यार्थ शास्त्र (धर्म) है ।

उपर कहे अनुसार तत्वों तथा देव, धर्म, गुरुका श्रद्धान करते हुए सम्यग्दर्शनको बढ़ानेवाले अष्ट अङ्गोंको भी धारण करना चाहिये । क्योंकि कहा है—

दर्शनम् नाङ्गहिनं स्यादलं छेत्तुं भवावलिम् ।
मात्राहीनस्तु किम् मंत्रो विषमूर्च्छां निरस्यति ॥ ६० ॥
(धर्मसंग्रहश्रावकाचार अ० ४)

अर्थ—अङ्गहीन सम्यग्दर्शन संसारसंततिको छेदनको समर्थ नहीं है, जिस प्रकार मात्राहीन मंत्र विषवेदनाको दूर नहीं कर सकता है । इसलिये निम्न लिखित अष्ट अङ्गोंको भी धारण करना आवश्यक है—

(१) निःशङ्कित—अर्थात् जिनागममें शंका न करना, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि समझनेमें न आवे तो पूछना भी नहीं, प्रश्न भी नहीं करना, केवल समझें वा न समझें परन्तु हां हां महाराज, जी महाराज कहते जाना इत्यादि । किन्तु अभिप्राय यह है कि मनमें यह दृढ़ श्रद्धान रखना कि जिनेन्द्रभगवानने तत्वका जो स्वरूप कहा है, वह तो यथार्थ ही है । परन्तु मेरी बुद्धिमंदताके कारण समझमें नहीं आया इसलिये समझनेके अभिप्रायसे (जिज्ञासु भावसे) तर्कवितर्कों द्वारा प्रश्न करके समझनेमें निःशङ्कित अङ्ग खंडित नहीं किन्तु मंडित होता है । कारण हांजी हांजी द्वारा मानी हुई बातमें कभी भूल होना, भ्रम पड़ना श्रद्धान भ्रष्ट हो जाना भी संभव है । परन्तु वादविवादपूर्वक समझे हुए विषयमें फिर शंका ही नहीं रहती है । क्योंकि वह समझकर ग्रहण करता है । परन्तु जो लोग समझते तो कुछ नहीं है; केवल मुहकों द्वारा समय नष्ट करना चाहते हैं उनके लिये चाहे जो नियम

बना लिया जाय । इसलिये सम्यग्दृष्टि पुरुष सदैव जिनागममें श्रद्धा रखकर अभ्यास करते हैं ।

(२) निःकांक्षित—अर्थात् संसारके विषयभोगोंको विनाशीक और दुःखोंसे भरे हुए जानकर उनमें लवलीन नहीं होना । अर्थात् भोगाकांक्षा रूप निदानादि न करना ।

(३) निर्विचिकित्सा—साधर्मीजनों व रत्नत्रयके धारी साधुजनोंके मलिन शरीरको देखकर घृणा न करके उनके गुणोंमें अनुराग करना । तथा ग्लानि रहित हो वैयावृत्यादि करना ।

(४) अमूढ़दृष्टि—देव अदेव, धर्म अधर्म, सुगुरु कुगुरु, इत्यादिका विचार करके उनमें भेद करना, और देव, धर्म, गुरु, तत्वादिका यथार्थ श्रद्धान करके शेषको मन, वचन, काय व कृत कारित अनुमोदनापूर्वक त्याग करना ।

(५) उपगूहन—जिन कारणोंसे सत्य धर्मपर झूठे आक्षेप होते हों व धर्मका हास्य या निंदा होती हो, उन कारणोंको रोके, दबावे, तथा प्रगटपने अपने गुणोंकी प्रशंसा और दूसरोंके छते व अनछते गुणोंकी निंदा नहीं करना ।

(६) स्थितिकरण—सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्रसे डिगते हुवे जीवोंको उपदेशादि द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकारसे स्थिर करना ।

(७) वात्सल्य—साधर्मी भाइयोंके प्रति तथा जीव मात्रासे भी गाय और उसके बछड़ेके समान निष्कपट प्रेम रखना, और स्वशक्ति अनुसार उनकी सेवा सुश्रुषा, सहायता व भक्ति आदि करना ।

(८) प्रभावना—सर्वत्र सर्वोपरि सच्चे (जैन धर्मका प्रभाव प्रगट करना ।

अब २५ मलदोषोंको कहते हैं—

त्रिमूढं च मदाष्टौ च षडेवाऽऽयतनानि च ।
शंकादयोऽष्टसम्यक्त्वे दोषाः स्युः पंचविंशतिः ॥६९॥
(धर्मसंग्रह श्रावकाचार अ० ४)

अर्थ तीन (देव, लोक और गुरु) मूढ़ता, अष्ट (ज्ञान, कुल, जाति, बल, सम्पत्ति, तपश्चरण रूप ऐश्वर्य) मद, छह (कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और कुदेव सेवक, कुगुरु सेवक और कुधर्म सेवक) अनायतन और आठ (शंका, कांक्षा, ग्लानि, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण अवात्सल्य और अप्रभावना) दोष, इस प्रकार सब मिलकर पच्चीस मलदोष हुवे, इनका त्याग करना चाहिये । इनका कुछ संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जाता है—

देव मूढ़ता ।

भय, आशा, स्नेह या लोभादिके वश हो करके रागी द्वेषी देवोंको तथा जिनदेवको भी पूजना व उनकी मानता मानना सो देवमूढ़ता है । कारण, किसी भी प्रकारकी लौकिक सिद्धिकी इच्छा करके जो देवपूजादि करना सो देव मूढ़ता है । क्योंकि कार्यकी सफलता असफलता जो होगी वह अपने ही किये हुवे पूर्व पुण्य और पापकर्मोंके अनुसार यथा-योग्य होगी । इसमें कोई देव देवी कुछ भी कर नहीं सकते हैं । क्योंकि पुण्य कर्म तो मंद कषायोंसे किये हुवे तपश्चरण दया दान व्रत शील संयम ध्यान ज्ञानादिसे होता है । सो इनमें न प्रवृत्ति कर देवोंकी मानता मानना भूल है, मूढ़ता है, अज्ञान है । यदि कहो कि तब तो जिनदेवकी भी उपासना नहीं करना ठहरा सो ठीक है । लौकिक अभिप्रायोंकी सिद्धिके

अर्थ जिनदेवकी भी पूजा सेवा करना व्यर्थ है। जिनदेवकी पूजा तो इस अभिप्रायसे करना चाहिये कि यह जीव (मैं) जो कर्मवश संसारमें जन्ममरणका दुःख पा रहा है, विषय-कषायोंकी तृष्णामें घोर दुःख पा रहा है उससे किसी प्रकार छूटे। सो हे जिनदेव ! आपने इन विषय कषायोंको क्षीणकर कर्मोंपर विजय पाई है और जन्ममरणसे रहित हुवे हो, इसलिये हमको अपना अविनाशी मोक्षपद देवो (आपका पद हमें भी मिले)। विचारनेका अवसर है कि जो देव स्वयम् काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया, मान, खेद, चिंता, भय, विस्मय, ग्लानि आदिके वशमें हुवे दुःखित हो रहे हैं, वे दूसरोंका दुःख कैसे दूर कर सकते हैं !

दुःख तो दूसरोंका उसीके कारण दूर हो सकता है जिसने प्रथम अपना सब प्रकारका दुःख दूर करके सच्ची स्वाधीनता (मोक्षपद) प्राप्त की हो। और यह बात जिनदेव ही में पाई जाती है। इसलिये निरीच्छा होकर जिनदेवकी पूजा, स्तवन, गुण, कीर्तन करना चाहिये। यहां इतना और ध्यान रखना चाहिये कि कालदोषसे कितने ही लोगोंने जैनके नामसे अनेक प्रकारके संसारी देवों जैसे यक्ष, दिक्पालादि देवोंकी पूजा भी चला दी है और वे उसकी पुष्टिमें भोले लोगोंको अनेकों युक्तिशून्य प्रमाणों द्वारा बहका लेते हैं। तथा कितने चौवीस तीर्थंकरोंकी परम दिगम्बर वीतराग मुद्राको बिगाडकर, उनकी प्रतिमाओंको मुकुट कुंडल हीरादि आभूषणसे तथा आंगी आदिसे अलंकृत करके भी उन्हें वीतरागदेवकी मूर्ति बताते हैं। सो परीक्षा करके ही सच्चे १८ दोष रहित देवका आराधन करना चाहिये और इनके सिवाय अन्य रागी, द्वेषी आदि कुदेवोंकी पूजादि करना देवमूढ़ता है।

गुरुमूढ़ता

आरम्भ और परिग्रहके धारी, लोकमें अपनी प्रतिष्ठा पानेके इच्छुक, यंत्र मंत्र तंत्रोंके द्वारा युवक युवतियोंको फंसाकर द्रव्य कमानेवाले, तथा योगकी ओटमें भोग भोगनेवाले, मठाधीश, अखाड़ेवाले महन्त, नाना प्रकारके कल्पित भेषधारी गुरुओं (साधुओं) की सेवा करना सो पाखण्ड (गुरु) मूढ़ता है। कारण जो अपना घर स्त्री पुत्र आदि त्यागकर भी त्यागी नहीं हैं, जो वनमें रहकर भी गृहस्थोसे अधिक आरम्भ परिग्रह रखते हैं, बात बातमें श्राप देनेके लिये दुर्वासा ऋषिकी होड़ करते हैं, लोगो को ठगनेके लिये पुत्र पुत्रादि देनेके ठेकेदार बनते हैं, किसीकी हार, किसीकी जीत कराते है, जो स्त्री पुत्रोंके मर जानेके कारण वियोगी होकर साधु हुए है। या स्त्री न मिलनेके कारण या किसी रूपवान स्त्री ही के लिये साधु हुए, या धन लुट जानेसे या धन कमानेके लिये ही साधु हुए हैं, या जो परिश्रम करके व्यापार, मजदूरी आदिके द्वारा द्रव्य न कमाकर कायर हुए, अपने जीवननिर्वाहका यही साधन बना भस्मी लगाकर, भगवे कपड़े पहिनकर, जटा बढ़ाकर या मूंडाकर भेषधारी बकुल ध्यानी साधु हो जाते हैं। सो भला जब ये बिचारे स्वयम् अपने आत्माके ठग, अपनाही कल्याण करनेमें असमर्थ, अक्षरज्ञान शून्य, अपने मठ या पदकी रक्षार्थ पण्डितोंको नौकर रखकर उनके द्वारा पूजापाठ कराते और आप केवल मुंह चलाकर आशीर्वाद देनेवाले लोग दूसरोंका क्या भला कर सकते हैं? सिवाय इसके लिये अपने पूजकों और शिष्योंमें दण्डनीति धारणकर टैक्स (कर) वसूल करते और खूब मजे उड़ाते हैं। अपने पांव पुजवाना ही इनका उपदेश है। इसलिये परम दिगंबर मुद्राधारी बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहसे

विरक्त सच्चे कल्याण करनेवाले दिगम्बर जैन मात्र ही होते हैं। उनके सिवाय शेष ऊपर कहे अनुसार जो आरम्भी व परिग्रही गुरुओंको मानना सो गुरुमूढ़ता है, त्याज्य है।

लोक (धर्म) मूढ़ता।

बिना समझे अर्थात् हिताहित, गुण अवगुण आदिका विचार बिना किये, जो देखा देखी धर्म समझकर किसी कार्यमे प्रवृत्ति करना सो लोकमूढ़ता है। जैसे नदीमें नहानेसे, पहाड़ परसे गिरनेसे, संडे मुस्तन्डे भिखमंगोंको खिलानेसे, तीर्थोंमें जाकर जीमनवार करनेसे, मरनेके बाद श्राद्धादि पिण्डदान करनेसे, दूसरोंके पुत्र पुत्र्यादिका विवाह करा देनेसे बालू रेत व पत्थरोंका ढेर करनेसे; सती होना, इत्यादि सब लोक मूढ़ता है। क्योंकि कहा है:—

कोटि जन्म तप तपें, ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानीके क्षणमें त्रिगुप्तिसे, सहज टरें ते॥
(छह ढाला)

अर्थ—अज्ञानी करोड़ जन्मोंमें तप करके जितने कर्मोंकी निर्जरा करता है ज्ञानी उतने तथा उनसे भी अनन्तगुणे कर्मोंकी निर्जरा मन, वचन और कायकी क्रियाको रोककर क्षणभरमें कर देते हैं। इसलिये सम्यग्ज्ञान और श्रद्धासहित ही क्रिया फलदायक होती है, धर्म कहाती है। शेष क्रियासे कुछ लाभ नहीं, व्यर्थका कायक्लेश परिश्रम और द्रव्य व समयका व्यय करना है।

इस प्रकार ये तीन मूढ़ता और ऊपर कहे आठ प्रकारके मद (अहंकार), छः अनायतन और निःशंकित आदि गुणोंसे

ऐसे आठ दोष इत्यादि सब मिलकर सम्यग्दर्शनके जो पच्चीस मल दोष हैं उनको सर्वथा प्रकारसे टालकर निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करना चाहिये।

निर्मल सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेसे प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्यता तथा मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ इत्यादि चार चार भाव भी प्रकट होते हैं।

प्रशम—अर्थात् कषायोंकी मंदता होनेसे विषयोंमें अरुचिका होना।

सम्वेग—संसारके दुःखोंसे भयभीत रहना तथा धर्मानुराग सहित यथाशक्ति संयम धारण करना।

अनुकम्पा—प्राणी मात्र पर दयाभावका होना।

आस्तिक्य—धर्म और धर्मके फलमें श्रद्धा (दृढ़ विश्वास) का होना अर्थात् कभी भी कठिनसे कठिन अवसर आनेपर (रोग, शोक, भय, विस्मय, खेद, दरिद्रता इत्यादि उपस्थित होनेपर) भी मनमें इस प्रकारकी शंका न होना, कि धर्म करनेसे तो धर्मात्माओंको कष्ट आते हैं, और पापी आनन्द मनाते हैं, या यह पंचमकाल है, इसमें धर्म नहीं फलता, पाप ही फलता है इत्यादि। यद्यपि यह देखनेमें आता है, कि वर्तमानमें बहुतसे सदाचारी पुरुषोंको कष्ट और पापियोंको सुख भोगनेमें आता है, परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि धर्मका फल दुःख और पापका फल सुख है, किन्तु यही दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि सदैव धर्मसे सुख और पापसे दुःख ही मिलता है।

कितनी ही बहिनें मातायें केवल इसलिये ही पवित्र दिगम्बर

जैन धर्मकी श्रद्धासे शिथिल होजाती है कि " दि० आचार्योंने स्त्री की पर्यायसे मोक्ष नहीं बताया है ", सो उनको जानना चाहिये कि यदि स्त्री पर्यायसे मोक्ष होता तो दिगम्बराचार्य क्यों ना कहते ? क्या उनके कहनेसे या उनके द्वारा उपदेशित धर्मको धारण करने ही से मोक्ष जानेसे रुक सकते हैं ? कदापि नहीं। फिर दिगम्बराचार्योंको स्त्रियोंसे कोई द्वेष तो था ही नहीं जो ऐसा कहकर स्त्री जातिको निर्बल बताकर उनका चित्त दुखाते। जो महात्मा सूक्ष्म जीवोंकी भी रक्षाका उपदेश करे और मोटे पंचेंद्री प्राणीका चित्त दुखावे, क्या यह कभी सम्भव हो सकता है ? अथवा क्या अन्य धर्मवालोंके कहनेसे ही मोक्ष हो जाता है ?

क्या मोक्ष कोई ऐसी वस्तु है जो केवल आशीर्वाद देने मात्रसे (अनुग्रहसे ही) मिल सके। इसलिये हमारी माता बहिनों और पुत्रियोंको धर्मका स्वरूप समझकर धर्ममें दृढ़ हो जाना चाहिये, विकल्पको त्याग देना चाहिये। इस प्रकार दृढ़ श्रद्धान करके उन्हें सच्चे देव, धर्म गुरुकी भक्ति करना और अपना पवित्र जीवन शील संयम व्रतादि सहित बिताकर सल्लेखना-मरण करना चाहिये, इससे स्त्रीलिंग छेद होकर अवश्य ही अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त हो सकेगा, इत्यादि। ऐसा न करके ज्यों त्यों संसारी सुखोंके लोभके वश होकर जो सच्चे दिगम्बर जैन धर्मको छोड़कर अन्य प्रकार बिना विचारे देखादेखी करके प्रवर्तता है सो ही लोक (धर्म) मूढ़ता है।

यह जो वर्तमानमें उल्टा फल दृष्टिगत होता है, उसका कारण उन धर्मात्मा व पापात्मा जीवोंके पूर्वोपार्जित पाप या पुण्य (धर्म) का फल है न कि वर्तमानका, इसलिए लोगोंको (प्राणियोंको) उनके शुभ अशुभ भावों व कर्मोंका शुभाशुभ

फल अवश्य मिलेगा, ऐसा समझकर धर्ममें श्रद्धा रखकर धर्माचरण पाते हुवे भी उसके फलकी ओर दृष्टि न देना अर्थात् फलकी इच्छा न करना चाहिये । क्योंकि फल तो अपने अपने कर्मानुसार सभी जीवोंको मिलता ही है, तब वृथा निष्प्रयोजन निदान बंध करना इत्यादि, सो आस्तिक्य भाव है ।

मैत्री—जीव मात्रसे मित्रभाव (प्रेम) रखना, अर्थात् उन्हें सुखी देखकर हर्ष मानना और दुःखी देखकर यथाशक्ति उनके दुःखमोचनका उपाय करना ।

प्रमोद—अपनेसे गुणाधिक्य पुरुषोंमें ज्ञान व चारित्र आदिकी वृद्धि देखकर प्रसन्न होना न कि दाह करना ।

माध्यस्थ—अर्थात जो प्राणी विपरीत मार्गगामी है, और उसको सन्मार्गमें नहीं लगा सकते हैं, या जो जीव उपदेशादि धर्मामृतको अपने पूर्वोपार्जित मोहादि अशुभ कर्मोदयसे विष सदृश आस्वाद न करते, तथा उल्टे धर्म व धर्मात्माओंपर कलंक लगाकर उन्हें कष्ट पहुंचाते हैं, तो ऐसे जीवोंसे कषायभाव न करके माध्यस्थभाव धारण करना चाहिये अर्थात् न तो उनकी अनुमोदना ही करना और न विरोधी ही बनकर उन्हें कष्ट पहुंचाना और न अपने ही संक्लेश भाव रखना, परन्तु यदि हो सके तो सुधारनेका प्रयत्न करना, अन्यथा समताभाव धारण करना, यही माध्यस्थ भावना है ।

इनके सिवाय और भी अनेक गुण सम्यग्दृष्टी जीवमें प्रगट होते हैं, जैसे समता (हानि व लाभ, सुख किंवा दुःख, जीवन मरण, इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग, भय, आपत्ति, इत्यादि अवस्थाओंसे अपने धैर्यको न त्यागना, उनमें रागी द्वेषी न होना, कायरता न करना, बलपूर्वक सामना करना, समभाव

एसन. इत्यादि), क्षमा (अन्य प्राणियोंके द्वारा अपने उपर किये हुए उपसर्गोंको सहन करना अर्थात् किन्हीं प्राणियोंपर क्रोध न करना) परोपकारिता, धैर्य, पुरुषार्थ इत्यादि । अब यहां प्रश्न यह होता है कि सम्यग्दर्शनको प्रधानपद क्यों दिया जाता है ? तो उत्तर यह है कि स्वपरकल्याणाभिलाषी (मुमुक्षु) प्राणी कल्याण (मोक्ष) के सत्य मार्गकी (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रकी) खोज व परीक्षा करके उसपर अपना दृढ़ विश्वास जमा लेता है । और फिर यदि वह प्राणी किसी कारणवश उस मार्गसे च्युत होकर विपर्यय मार्ग पर भी चलता है (चारित्रभ्रष्ट हो जाता है ।) और अपना श्रद्धान जैसाका वैसा ही स्थिर रखता है, तो संभव है कि कभी वह फिर सम्यक् मार्ग ग्रहण कर सकेगा, क्योंकि वह चारित्रभ्रष्ट होते हुए भी अपने विश्वाससे भ्रष्ट नहीं हुआ है । इसलिए उसे कल्याण मार्गसे भ्रष्ट नहीं कर सकते हैं ।

जैसे स्वामी समंतभद्राचार्य, स्वामी माघनंदी मुन्यादि चारित्रभ्रष्ट होकर भी दर्शनभ्रष्ट न होनेके कारण पुनः मोक्षमार्गमें स्थित हो गये थे, परन्तु जो पुरुष चारित्रपर कदाचित् दृढ़ हो (भले प्रकार पालता हो) परन्तु दर्शन (श्रद्धा) से च्युत हो गया है, तो उसका वह ज्ञान और चारित्र सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र नहीं कहा जा सकता है। यह ज्ञान व चारित्र मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र ही जानना चाहिये और वह अवश्य छूट जायगा, वह भ्रममें पड़कर भ्रष्ट हो जायगा और श्रद्धान न होनेके कारण फिर मोक्षमार्गमें नहीं लग सकेगा, अर्थात् वह अनंत संसारमें भटकता फिरेगा।

कुन्दकुन्दस्वामीने कहा भी है—

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्य णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥३॥
—दर्शन पाहुड ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन भ्रष्ट जीव ही भ्रष्ट कहा जाता है। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जीवको निर्वाणपद नहीं प्राप्त होता है। चारित्र रहितको तो कभी भी हो सकता है, पर दर्शन भ्रष्ट तो कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार संक्षिप्तसे दर्शनविशुध्दि भावनाका स्वरूप कहा। अब शेष भावनाओंका स्वरूप कहते हैं। यद्यपि यह दर्शनविशुध्दि भावना इतनी विस्तृत है कि इसके अंतर्गत और सब भावनायें आ जाती हैं, तथापि भिन्न भिन्न करके समझाते हैं। परन्तु यह स्मरण रहे कि इस भावनाके विना अन्य भावनाएं कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं। ये सब इसीके साथ साथ फलवती होती हैं। इसलिये इसे न भूलाकर ही उन्हें चिंतवन करना चाहिए। सो ही कहा है—

दर्शन शुद्ध न होवत जबलग, तबलग जीव मिथ्याति कहावे।
काल अनन्त फिरे भवमें, अरु दुःखनको कहिं पार न पावे॥
दोष पचीस रहित वसुगुणयुत, सम्यग्दर्शन शुद्ध कहावे।
ज्ञान कहे नर सोहि बड़ो जो मिथ्यात तजी जिन मारग ध्यावे॥

इति दर्शनविशुध्दि भावना ।

(२) विनयसम्पन्नता ।

विनय—अर्थात् नम्रतापूर्वक निष्कपट भावसे आदर-सत्कार करना । विनय पांच प्रकारकी होती है-दर्शन, ज्ञान चारित्र, तप और उपचार विनय ।

दर्शनविनय—सम्यग्दर्शन निर्दोष धारण करना तथा सम्यग्दृष्टी जीवोंका यथासंभव आदरसत्कार करना ।

ज्ञानविनय—सम्यग्ज्ञानको धारण करना तथा सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंका तथा सम्यग्ज्ञानका विनय (यथासंभव आदरसत्कार) करना और उन ग्रन्थोंका जिनमें सम्यग्ज्ञानका कथन किया गया है, यथायोग्य पूजनादि करना, परन्तु केवल ग्रन्थोंकी पूजन व उन्हें अच्छेर वेष्टनोंमें लपेट कर रख देना तथा नमस्कार इत्यादिको ही ज्ञानविनय न समझ लेना चाहिए । यथार्थमें ज्ञानविनय यही है, जो सम्यग्ज्ञानको धारण करना, पढ़ना, पढ़ाना उपदेश सुनकर सरलता व नम्रतापूर्वक धारण करना, उपदेश देना, सम्यग्ज्ञानका प्रचार करना, ग्रन्थोंका प्रकाश व प्रचार करना इत्यादि ।

चारित्रविनय—सम्यक्चारित्र यथाशक्ति रुचिपूर्वक कल्याण कारी जानकर धारण करना, तथा सम्यक्चारित्रके धारी पुरुषोंमें पूज्यभाव रखना, उनकी विनय सुश्रूषा सत्कारादि करना ।

तपविनय—यथाशक्ति इन्द्रियोंको वश करके मनको वश करना और सम्यक् तपधारी साधु तपस्वियोंमें पूज्य भाव रखना, उनकी विनय सुश्रूषा वैयावृत्त सत्कारादि करना ।

उपचारविनय—अपनेसे गुणाधिक्य पुरुषोंमें भक्तिभाव

रखना, उनके आगे आगे नहीं चलना, नहीं बोलना, उनको आदर सहित उच्चासन देना, नम्रतापूर्वक मिष्ट वचन बोलना, उनकी आज्ञा मानना इत्यादि । प्राणियोंमें यह गुण होना परमावश्यक है । विनयी पुरुषका कोई भी शत्रु संसारमें नहीं रहता है विनयी सबका प्रीतिभाजन होता है, विनयीको गुरु आदि शिक्षकगण प्रेमसे विद्या पढ़ाते हैं, विनयीको कष्ट आनेकी शंका नहीं रहती, लोग उनकी सदैव सहायता करनेमें तत्पर रहते हैं, परन्तु अभिमानीके तो निष्कारण प्रायः सभी शत्रु बन जाते हैं । इसलिये विनयगुण सदैव धारण करना चाहिये ।

जैसा कि कहा है—

देव तथा गुरुराय तथा, तप संयम शील व्रतादिक धारी ।
पापके हारक कामके सारक, शल्यनिवारक कर्म निवारी ॥
धर्मके धीर हरें भवपीर, कषायको चीर संसारके तारी ।
ज्ञान कहे गुण सोहि लहे, जु विनय गहे मनवचकाय सम्हारी ॥

इति विनयसम्पन्नत्व भावना ॥ २॥

(३) शीलव्रतेषु अनतिचार

शीलव्रतेषु अनतिचार—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह अथवा अपरिग्रहप्रमाण, ये पांच व्रत और इनको निर्दोष पालनार्थ क्रोधादि कषायोंके रोकनेको शीलव्रत कहते हैं, और शीलव्रतोंके पालन करनेमें मनवचकायकी निर्दोष

प्रवृत्ति सो शीलव्रतेषु अनतिचार भावना कही जाती है। अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे एकदेश विरक्त होनेपर पांच अणुव्रत + दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थ-दंड त्यागव्रत ये तीन गुणव्रत + और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिणाम व्रत और अतिथिसंविभाग व्रत ये चार शिक्षाव्रत ऐसे ५ व्रत और ७ शील सब मिलकर १२ व्रत हुए, सो इनको ६० (१२×५) अतिचार रहित पालना, सो भी शीलव्रतेषु अनतिचार भावना कहाती है।

यथार्थमें शील आत्माके स्वभावको कहते हैं इसलिए आत्माके स्वभावसे भिन्न जो परभाव तिन सबको रोककर स्वभावरूप प्रवृत्तिका होना यही शील है। परन्तु व्यवहारमें मैथुन (कामसेवन) आदि क्रियाओंसे विरक्त होनेको भी शील कहते हैं।

यह व्यवहार शील दो प्रकारका होता है– एक गृहस्थका, दूसरा साधुका। गृहस्थका शील स्वदार–सन्तोषरूप होता है। और साधुका मन वचन कायसे स्त्रीमात्रके संसर्गका त्यागरूप होता है। शीलको ब्रह्मचर्य भी कहते हैं।

ब्रह्मचर्य्य ही ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके सुखोंका प्रधान साधन है। हमारे देशमें प्राचीन कालसे यही पद्धति चली आ रही है, कि बालक बालिकायें जितने कालतक विद्या अध्ययन करें, वहांतक वे अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करें। इस ब्रह्मचर्य व्रतके चिह्नरूप यज्ञोपवीत (जिसे ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं,) द्विजातिके पुत्रोंको आठ वर्षकी अवस्था होनेपर पहिना दिया जाता है। और ब्रह्मचर्यके निर्दोष पालनार्थ, इसके विरोधी कामोत्तेजक कारणोंको, जैसे अंजन-मंजन लगाना, बालोंका सम्हारना, इत्र फुलेल आदिका लेप

करना, सुंदर सुंदर वस्त्राभूषण पहिनना, विलासी नरनारियों-की संगतिमें रहना, कामकथाओंका कहना सुनना, पुष्ट स्वादिष्ट भोजन करना, इत्यादि रोक दिया जाता है। उन्हें विद्याध्ययन कालपर्यंत गुरुके घर ही रहना पड़ता है जिसे गुरुकुलकी प्रथा कहते हैं।

यह प्रथा यद्यपि कालके फेरसे अन्यरूपमें बदल गई है, तो भी किसी अंशमें अभी काशी नालंदा आदि स्थानोंमें बराबर प्रचलित है। जहांतक इस प्रथाका प्रचार यथार्थ रीतिसे रहा वहांतक ही इस देशमें अकलंक निकलंक जैसे धुरन्धर विद्वान् होते रहे, और धर्मका डंका बजाते रहे हैं, परन्तु जबसे विद्यार्थियोंने इस प्रथाको छोड़ा और उनके मातापिताने अज्ञानवशवर्ती होकर उनका पाणिग्रहण अल्प वयमें कराना आरम्भ कर दिया, तभीसे उनके विद्योपार्जन मार्गमें बड़ा भारी रोड़ा (पत्थर) अटक गया—आड़ा आ गया। आजकलके विद्यार्थी थोड़ीसी महिनतसे घबरा जाते हैं। उन्हें फूल (ताजा) और कामिनिया आईल, बर्फ, दूध, बादाम, मिश्री, अर्क, गुलाबकेवड़ा, खसकी टट्टी और पंखेका किवाय, मोजा, गुलूबन्द, स्वेटर, छाता और जूता इत्यादि सामान तो आवश्यक हो गया है। इसके बिना तो वे पढ़ ही नहीं सकते हैं।

जब प्राचीन कालके ब्रह्मचारी विद्यार्थी धूप ठंड आदिकी कुछ पर्वाह न कर सिंह शावक (बच्चा) के समान विचरते थे, जिस कार्यको हाथमें लेते उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। इसका कारण उनका ब्रह्मचर्य्य ही था। आज जो आवश्य-कतायें होने लगी हैं, यह सब निर्बलताका कारण है। उनके अल्प वयमें वीर्यका क्षय होना ही कारण है। इससे यह

तात्पर्य निकलता है कि ज्ञानोपार्जनके लिये ब्रह्मचर्य्य व्रतकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। और ज्ञानसे सब प्रकारका सुख होता है जो आगेकी भावनामें कहेंगे।

दूसरी बात यह है कि सदासे यह नियम चला आ रहा है कि "वीर भोग्या वसुंधरा" अर्थात् "जिसकी लाठी उसकी भैंस" तात्पर्य जो बलवान होता है, वही पृथ्वी पर राज्य करता है। निर्बल सदा दबाये जाते हैं। एक ही सिंह अपने बलसे समस्त जंगलके जानवरों पर राज्य करता और निर्भय रहता है। उसका कारण एक ब्रह्मचर्य्य ही है। वह अपने जीवनमें एकबार ही कामसेवन करता है और एक ही बारमें अपने ही समान (बलिष्ठ) पुत्र उत्पन्न कर देता है।

जबकि ब्रह्मचर्यके नष्ट होनेसे हमारे बहुतसे भाई अपने जीवनमें सन्तानका मुंह देखनेको तरसते तरसते मर जाते हैं, और यदि सन्तान भी प्राप्त करलें तो अधिक समयतक उसे साथ न रख सकें (सन्तानका वियोग अल्प ही वयमें हो जाय)— यदि सन्तान जीवित भी रही तो निरंतर वैद्योंकी हाजिरी देना पड़े इत्यादि। जबकि सन्तानको निरंतर रोग और औषधिसेवनसे ही फुर्सत (अवकाश) नहीं मिलती तो वे संसारका क्या सुखानुभव कर सकते हैं? वे तो सदैव विषयके स्वादकी इच्छासे तरसते तरसते यमराजके पाहुने बन जाते हैं। न वे अपना भला कर सकते न दूसरोंका ही, केवल आयुके दिन गिनते रहते हैं, उन्हें अपना ही जीवन भाररूप हो जाता है। इतने पर भी बहुतसे अज्ञानी मदोन्मत्त हाथीके समान अपनी पत्नी व पतिके सिवाय अन्य स्त्री पुरुषोंके साथ अपने वीर्यको नष्ट करते हैं। सो उन्हें शारीरिक हानि तो

होती है, परन्तु और भी अनेकानेक आपत्तियोंका साम्हना करना पड़ता है ।

लोकनिन्दा, पञ्चदण्ड, राज्यदण्ड भोगना पड़ता है। आतशक, भगन्दर, प्रमेहादि रोगोंसे शरीर जर्जरित हो जाता है। अंग भंग कराना पड़ता है और कभी कभी तो कितने ही लोगोंको इस महा अपराधके कारण जीवनसे भी हाथ धो डालना पड़ता है। कामी पुरुष स्त्री, माता, बहिन, बेटी भाई, बेटा आदि भी ध्यान नहीं रखते हैं ।

ज्यों ज्यों शरीर जर्जर, निर्बल और तेज हीन, धातुक्षीण होता जाता है कामेच्छा त्यों त्यों उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है । उन्हें कभी भी तृप्ति नहीं होती । कदाचित् वे स्वयम् कामसेवन न भी कर सकें, तो दूसरोंको सेवन कराकर प्रसन्न होते हैं। कामी पुरुष सदा आर्तरूप रहते हैं । उनकी दृष्टि सदा विषैले सांपोंके समान निज परको दुखदाई होती है। कामी पुरुष यदि स्वस्त्रीमें सन्तोष न करके वेश्या तथा परस्त्री सेवन करता है तो उसकी स्त्री भी प्रायः अपने पतिको कुमार्गमें आरूढ़ देखकर कामके वशीभूत हो अन्य पुरुषको अपना शीलरूपी भूषण लुटा देती है। हाय ! यह काम कैसा भयंकर पिशाच है कि इसका ग्रस्या हुआ प्राणी फिर नहीं निकल सकता । जितने अनर्थ, अन्याय और दुःख हैं वे सब कामके वश होकर ही किये जाते हैं ।

इस कामरूपी पिशाचसे बचनेके लिये हमें उन महापुरुषोंका जीवनचरित्र सदा स्मरण रखना चाहिये कि जिन्होंने इसे जड़मूलसे उखाड़ कर फेंक दिया गया है। जैसे भीष्मपितामह (जिन्हें गुरु गंगेय भी कहते हैं) ने याज्जीव स्त्रीमात्रका त्यागकर अखंड ब्रह्मचर्य पालनकर इस भूमिकी शोभा बढ़ाई

थी । भगवान नेमिनाथ स्वामी राजुलसी चन्द्रमुखी मृगनयनी स्त्रीका त्याग करके गिरनार पर ध्यानस्थ हुए थे । भगवान महावीरने बाल्यावस्थामें ही इसे जीतकर संसारको कल्याण-मार्ग दिखाया था । स्वामी पार्श्वनाथने भी इसे बाल्यावस्थामें ही निर्बल करके मोक्षमार्ग ग्रहण किया था । नारीभूषण ब्राह्मी और सुन्दरी कुमारियोंने तथा अनन्तमती, सेठकी कन्याने कुमारी अवस्थामें ही व्रत लिया था । इसके सिवाय और भी महाबली जितने नरनारी पृथ्वी पर हुए हैं यह सब ब्रह्मचर्यका ही प्रताप था ।

ब्रह्मचर्यके बिना जैसे ज्ञानप्राप्ति नहीं होती, ऐहिक सुख भी वैसे ही नहीं मिल सकता, और उसी प्रकार व्रत, संयम, नियम, धर्म दान, पूजा, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि कुछ भी नहीं हो सकता है । क्योंकि ब्रह्मचर्य बिना निर्बलता होती है, निर्बलतासे अनुत्साहता बढ़ती है, अरुचि होती जाती है, अस्थिरता बनी रहती है, कायरता, घेरे रहती है । इसलिये चित्त कभी एकाग्र नहीं होता है ।

भगवान उमास्वामीने कहा है—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचितानिरोधो ध्यानम् अन्तर्मुहूर्तात् ।

(तत्वार्थसूत्र अ० ९ सू० २७)

अर्थ—उत्तम अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहननवाले पुरुषोंकी भी एकाग्रचिंताको रोकनेरूप ध्यान अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट तक) ही स्थिर रहता है ।

सो भला जब ऐसे महाबली ही अपने ध्यानको ४८ मिनट तक स्थिर रख सकते हैं, तो वे ब्रह्मचर्य भ्रष्ट निर्बल पुरुष

किस प्रकार ध्यान स्थिर रख सकते हैं, और जब ध्यान संयम तप ही नहीं कर सकते तो इनके बिना मोक्ष कहां ? क्या इन निर्बलोंकी यह सामर्थ्य हो सकती है कि वे आये हुए उपसर्ग व परीषहोंको सहन कर सकें ? नहीं, कभी नहीं। वे ब्रह्मचर्य पालनेवाले वीर और पांडव ही थे, जो दुष्ट कौरवोंके सम्बन्धी भाइयों द्वारा लोहनिर्मित अग्निमयी आभूषण पहिराये जानेपर भी ध्यानसे नहीं डिगे।

वे बालब्रह्मचारी पार्श्वनाथ प्रभु ही थे, जो आठ दिन तक बराबर कमठके जीव द्वारा होते हुए वर्षा आदिका घोर उपसर्ग सहते रहे। वे ब्रह्मचर्यकी महिमा जाननेवाले सुकुमाल जी ही थे, कि जिनके शरीरको तीन दिन तक स्यालिनीने अपने बच्चों सहित भक्षण किया पर वे ध्यानसे न डिगे। वे महाराज बाहुबलि थे जो एकासन खड़े हुवे तप करते रहे कि जिनके शरीरपर वेलें चढ़ गईं, सांप लिपट गये, चिऊंटियोंने घर बना लिये तो भी सुमेरुवत् निश्चल खड़े रहे।

वे भगवान ऋषभनाथ ही थे, जो प्रथम ही छः मासके उपवास धारणकर ध्यानमें लीन हो गये और छः महिने तक भोजनांतराय होते रहनेपर भी व्रतमें आरूढ़ बने रहे, जबकि साथमें दीक्षा लेनेवाले अन्य ४००० राजाओंने क्षुधाओंने तृषासे पीडित होकर तप भंग कर दिया, और ३६३ पाखंड मत चला दिये, इत्यादि अनेकों दृष्टांत पुराण ग्रन्थों और इतिहासोंमें भरे पड़े हैं जो ब्रह्मचर्यकी महिमा गा रहे हैं, इसलिये ब्रह्मचर्य व्रतको उभय लोक हितकारी जानकर पालन करना चाहिये।

भंड वचन बोलना, रसकथा करना, सीटने (खराब गालियां) बकना, खोटे गीत गाना, स्त्री पुरुषोंके रूपका अवलोकन करना, उनसे एकान्तमें वार्तालाप करना, स्त्रियोंसे

वैयावृत कराना, भूत या भावी विषयभोगोंका विचार करना, दूसरोंका विवाहसम्बन्ध मिलाना, स्वपति व पत्नीमें भी अत्याशक्त रहना, कामाङ्गोंको छोड़कर अन्य अंगों द्वारा काम-चेष्टा करना, नरनारीके सिवाय निर्जीव मिट्टीकी कृत्रिम अचेतन पदार्थोंसे निर्मित नरनारियों व उनके अंगोंकी कल्पनाकर उनके साथ या पुरुष पुरुष या स्त्री स्त्रीके साथ कामक्रीड़ा करना अथवा अपने ही हस्तादि अंगों द्वारा वीर्यपात करना सो सर्व ही व्यभिचारसेवन करना है, ब्रह्मचर्य व्रतको दूषित करना है, तथा अपने आपको अपने अनुयायियों सहित घोर दुःखसागर-नर्कमें ढकेलना है। इसलिये निर्दोष ब्रह्मचर्य पालना चाहिये। ब्रह्मचर्य विना समस्त जप, संयम, ध्यान ढोंग मात्र है, विना अंकको बिंदियोंवत् व्यर्थ है।

निर्दोष ब्रह्मचर्यको पालनेसे ही समस्त व्रत निर्दोष पलते हैं सो ही कहा है—

शील सदा सुखकारक है, अतिचार विवर्जित निर्मल कीजे।
दानव देव करैं तिस सेव, करैं न विवाद पिशाचपती जे॥
शील बड़ो जगमें हथयार, सुशीलकी उपमा कौनकी दीजे।
"ज्ञान"कहै नहिं शीलसमो व्रत, तातैं सदा दृढ़शील धरीजे॥ ३॥

इति शीलव्रतेष्वनतिचार भावना।

(४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—अर्थात् निरन्तर तत्त्वोंका अभ्यास करना। जाननेका नाम ज्ञान है, और जाननेमें चित्तको लगाना सो उपयोग है, इसलिये निरन्तर जो जानने योग्य पदार्थोंको जानते रहना सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

ज्ञानमें उपयोग रखनेसे दिनोंदिन अभ्यास और अनुभव बढ़ता जाता है। अनुभवी पुरुष कभी धोखा नहीं खाता है, उससे भूल होना संभव नहीं है, और भूल न होनेसे दुःख नहीं होता है। ज्ञानी वस्तुस्वरूपके विचारमें मग्न रहते हैं इसलिये ज्ञानीको दुःख नहीं होता। असल बात यह है कि ज्ञानमें सदा उपयोग रहनेसे मन अन्यत्र नहीं डोलता है, विषयोंकी ओर नहीं जाने पाता है, तब विषयोंकी चाहरूप दाह भी उत्पन्न नहीं होने पाती है। यत्रतत्र उपयोग न जानेसे और तो क्या अपने शरीरमें होती हुई वेदना तक भी नहीं मालूम होती है, इस प्रकार ज्ञानी सदा सुखी रहता है। ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों त्यों आत्माकी शक्ति प्रफुल्लित होती जाती है, आत्मामें एक अपूर्व ही आनन्दका विकाश होने लगता है, संसारके क्षणिक विषयस्वादरूप सुख तुच्छ भासने लगते हैं, क्रोधादि कषायें धीरे धीरे छोड़कर भागने लग जाती हैं, सहनशीलता, धैर्यतादि गुण बढ़ते जाते हैं, घबराहट नहीं रहती है। यथार्थमें ज्ञानीके सुखका अनुमान ज्ञानी ही कर सकता है। अज्ञानी बिचारा क्या जाने?

दशा तो ऐसी है। जैसे—

भैंसके आगे बीना बाजे, भैंस रही रोथांय।
बैलहिं दीनों षटरस भोजन सो क्या स्वाद लखाय॥

किसी कविने ठीक कहा है—

पूछे कैसा मिष्ठ है, कैती मिश्री मिष्ट।
स्वादे सो जाने सही, उपमा मिले न इष्ट॥

यथार्थमें जैसे प्रसूताकी पीड़ाका अनुभव वंध्या नहीं कर सकती है, उसी प्रकार अज्ञानी सच्चे ज्ञानानंदका अनुभव नहीं कर सकते हैं। और व्यवहारमें भी ज्ञानी पुरुष ही सुखी देखे जाते हैं, क्योंकि अज्ञानी तमाम दिन कठिन परिश्रम करने पर भी उदरभर भोजन प्राप्त नहीं कर सकता, जब कि ज्ञानी पुरुष थोड़े परिश्रमसे मनवांछित द्रव्य और भोग सामग्रियां प्राप्त कर लेते हैं। देखो, राजकीय बड़े बड़े न्यायाधीशों आदिके पदों पर विद्वान पुरुष ही शोभा पा रहे हैं। सेठों साहूकारोंके यहां उनकी सम्पूर्ण संपत्तिके अधिकारी एक प्रकारसे विद्वान (उनके मुनीम गुमास्ते) ही हो रहे हैं। जहां तहां जितने बड़े बड़े पदाधिकारी मिलेंगे वे सब विद्वान ही होंगे।

चाहे वह (ज्ञानी) अन्धा हो, लूला लंगड़ा हो, काना हो, गूंगा हो, कुरूप हो, हीनांग व अधिक अंगवाला हो, परन्तु उसके पास जो गुप्त रत्न (ज्ञान) है उसीके कारण उसका संसारमें आदर होता है।

और धन तो दायादार बंटा सकते हैं, राजा लूटा सकते हैं, चोर चुरा सकते हैं, अग्नि भस्म कर सकती है, परन्तु यह एक ज्ञान धन ही ऐसा है, जो इन सब भाइयोंसे निर्भय है।

यह इस भवमें नाश होना तो दूर रहा, परन्तु परभव तक साथ जाता है।

एक विचित्रता इसमें यह है कि यह देनेसे बढ़ता है और न देनेसे घटनेकी संभावना रहती है।

राजाका मान उसके जीतेजी उसीके राज्यक्षेत्रमें होता है, परन्तु—

ज्ञानीका सन्मान सर्वत्र और सर्वदा होता रहता है।

आज न तो चौबीसों (ऋषभनाथसे लेकर महावीरस्वामी तक) तीर्थंकर विद्यमान हैं, न बाहुबलि भरत आदि केवली, न कुन्दकुन्दाचार्य, न समंतभद्राचार्य न अकलंकाचार्य,न जिनसेनाचार्य, न अमृतचंद्र कवि, न द्यानतराय कवि, न दौलतराम कवि, न बनारसीदासजी, न भैया भगवतीदास, न वृन्दावन, न भागचंद, न टोडरमलजी, न पंडित आशाधरजी, न सदासुखदासजी, न जयचन्दजी इत्यादि।

परन्तु अहा! आज भी उनकी वाणी और उनके कृत्योंके कारण वे अमर हो रहे हैं। उनके ज्ञान ही की यह महिमा है कि हम लोग उनकी वाणी, उनके अनुभव और उनके हितोपदेशोंसे आनंद-लाभ कर रहे हैं। हम आज भी उनके इस वसुन्धरापर विद्यमान न होते हुवे परोक्ष रीतिसे उनका सत्कार करते हैं, पूजा करते हैं, उनके स्मारकरूप तदाकार प्रतिबिम्ब (मूर्ति) बनाकर रखते हैं, उस मूर्तिके सन्मुख उनका गुण स्तवन करते हैं। क्या कोई भी जैना किसी मूर्तिकी पूजा करता है? क्या जैनी मूर्तिपूजक है? नहीं कभी नहीं। वे किसी अचेतन मूर्तिकी पूजा कभी नहीं करते हैं,

किन्तु मूर्तिको उन परमात्मा तीर्थंकर देवोंका स्मारक समझकर ही उस मूर्तिके सन्मुख होकर उनके गुणकीर्तन, स्तवन, पूजन करते हैं।

जैनी मूर्तिको परमात्मा नहीं मानते हैं, किन्तु उसे केवल मात्र स्मारक ही समझते हैं, अर्थात् उनकी यह वैराग्यमई शांतमूर्ति उन महात्माओंके चरित्रोंका स्मरण करानेवाली शांति और वैराग्य उत्पन्न करानेके लिये प्रधान निमित्त कारण है। चाहे वह पत्थर धातु, काष्ठादिकी बनायी जाय और चाहें चित्रपटमें बनायी जाय, परन्तु उस मूर्ति व पटमें जिसकी कल्पना है उसका स्मरण मूर्ति व पट देखते ही अवश्य हो जाता है। स्मरण होते ही अनुकरण करनेकी इच्छा होती है, और अनुकरण करनेसे तत्सदृश हो सकते हैं। इसी अभिप्रायसे मूर्तिकी स्थापना की गई है।

तात्पर्य—ज्ञानका ऐसा ही माहात्म्य है कि ज्ञानियोंको स्मरण रखनेके लिये उनकी मूर्ति तक बनाकर पूजी जाती है। और तो क्या, जिस स्थानमें वे ज्ञानी कभी एकवार भी पधारे होवें, वह स्थान भी पूजने लगता है। अहा! ज्ञान कैसा उत्तम पदार्थ है, कि जिसके स्मरण मात्रसे आनंद आ जाता है। इसलिये यदि लौकिक या पारलौकिक अथवा दोनों प्रकारके सुखोंकी इच्छा है, तो निरन्तर सम्यग्ज्ञानका अभ्यास करना चाहिये। कहा भी है—

ज्ञान सदा जिनराजको भाषित, आलस छोड़ पढ़े जु पढ़ावें।
द्वौ दशदोष अनेक हि भेद, सुज्ञान मति श्रुत पंचम पावे॥
चौ अनुयोग निरंतर भाषत, ज्ञान अभीक्षण शुद्ध कहावे।
ज्ञान कहे निज ज्ञान अभ्यासते, लोकालोक प्रत्यक्ष दिखावे॥

इति अभीक्षण-ज्ञानोपयोग भावना ॥ ४ ॥

(५) संवेग भावना।

संवेग—अर्थात् संसारके विषयोंसे भयभीत होना और धर्म, धर्मात्मा तथा धर्मके फलमें अनुराग करना सो ही संवेग भावना है। संसारके विषयभोग सब इन्द्रियोंके आधीन हैं, और इन्द्रियां शरीरके आश्रित हैं। शरीर रोग जरा और मृत्युकर सहित है, अतएव इन्द्रिय विषयभोग भी विनाशवान हैं। विनाशिक वस्तुमें प्रीति करनेसे वियोगके समय अवश्य ही दुःख होता है।

यदि यह मान लिया जाय कि जबतक शरीरका साथ है, तबतक ही इसमें प्रीति करना चाहिए, तो उत्तर 'यह है कि इसका यह भी भरोसा नहीं कि अमुक समय तक स्थिर रहेगा, न जाने श्वास जो बाहर निकलता है, वह फिर पीछे आता है या नहीं। फिर इस शरीरका साथ पाकर अच्छे अच्छे सुगंधित पदार्थ भी दुर्गंधित हो जाते हैं, इसको सम्हालते सम्हालते भी यह दिनोदिन क्षीण होता चला जाता है, सच्चे आत्मोपकारीको सुअवसर पर धोखा दे जाता है, व्रत संयम तपादिक परिषह सहन करनेमें कायरता धारण कराता है। जो लोग निरंतर शरीरका ही दासत्व करते रहते हैं उनका भी शरीर रोगोंसे परिपूर्ण होता हुआ देखा जाता है। हाय ! जिस शरीरकी इतनी सेवा की जाती है, वह आयुके अन्त होते ही यहीं पड़ा रह जाता है, और पलभरके लिये पदभर भी साथ नहीं जाता। हाय ! यह कैसा कृतघ्न है ?

सो जब शरीरकी ही यह दशा है, तब शरीरसे संबंध रखनेवाले पुत्र, कलत्र, मित्र आदिकी कथाका तो कहना ही

क्या है ? वे तो निरे स्वार्थी ही हैं । जबतक उनसे मिष्ट भाषण करते रहोगे, उनके द्वारा होते अनर्थों व अन्यायोंपर दृष्टिपात न करोगे, उनकी इच्छानुसार प्रवर्तन करते रहोगे, वहांतक वे भी तुम्हारी स्तुति करेंगे, तुम्हें पिता, दादा, भाई, मित्र स्वामी, बेटा आदि अनेक नाते लगाकर संबोधन करते रहेंगे, तुम्हारे दुःख दर्दमें यहांतक प्रीति दिखाएंगे कि यदि तुम्हारे लिये उनका शरीर भी लग जाय तो लगानेको तैयार है, परन्तु यह सब दिखावा मात्र है, अवसर आनेपर सब दूर भाग जायगे और एक दूसरेका मुंह देखने लगेंगे, कोई भी साथ देनेवाला दृष्टिगोचर न होगा ।

जैसे मिठास देखकर मक्खियां भन भन करके घेर लेती हैं, उसी प्रकार ये लोग भी पञ्च इन्द्रिय मनुष्याकारकी बड़ी बड़ी मक्खियां हैं । ये अर्थ (द्रव्य और काम (विषय) के लोलुपी जहांतक स्वार्थ देखते हैं, लिपटे रहते हैं, परन्तु ज्यों ही द्रव्यरूपी रक्त मांस सूखा, त्यों ही मुर्देके समान छोड़ देते हैं । इसलिये ऐसे स्वार्थीजनोंसे प्रेम कर .उनके लिए अपने आत्माका बिगाड़ करना उचित नहीं है । इस प्रकार संसार देह भोगोंके स्वरूपका विचार कर उनसे सदा भयभीत रहना, उनमें मग्न न होना, यथाशक्ति उनसे दूर रहकर धर्मका सेवन करना, यही संवेग भावना है ।

धर्म[1] वस्तुके स्वभावको कहते हैं । उत्तमक्षमादि दश प्रकार भी धर्म कहा है । रत्नत्रयको भी धर्म कहते हैं और अहिंसा पालन करना भी धर्म है । यद्यपि यहां चार प्रकार धर्म कहा है परन्तु यथार्थमें इन चारोंमें कुछ भी अंतर नहीं भिन्नता

१ देखो दशलक्षणधर्म पुस्तक ।

नहीं है, सब एक ही है । इसलिये इनका सेवन करना धर्म और धर्मात्माओंमें प्रीति रखना । धर्ममें प्रीति उसीकी हो सकती है जो विषयों व कषायोंमें आसक्त न हो । विषयी पुरुष धर्मात्मा संवेगी वैरागी पुरुषोंकी हंसी उड़ाते हैं, उनको धर्मसेवन करनेमें विघ्न करते है, उपसर्ग करते हैं- जिसतिस प्रकार धर्मसे च्युत करनेका प्रयत्न करते हैं, परन्तु जो निरन्तर संवेग भावनाका चितवन करते हैं, वे विघ्नोंको, उपसर्गोंको, सहन करते हैं, उपहाससे भयभीत नहीं होते हैं । ज्यों ज्यों लोग उन्हें धर्मसे च्युत करना चाहते हैं, त्यों त्यों वे और भी धर्ममें दृढ़ होते जाते हैं ।

फल इसका यह होता है, कि निंदक लोग पापकर्म बांधकर दुर्गतिको चले जाते हैं और संवेगी धर्मात्मा पुरुष धर्मध्यानके योगसे स्वर्गादिक सुखोंका अनुभव कर फिर मनुष्य हो अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं । इस भावनाका चितवन निरंतर करना योग्य है । जैसा कि कहा है—

मातन तातन पुत्रकलत्रन, संपति सज्जन ए सब खोटो।
मंदिर सुंदर काय सखा सब, को, ये को हम अन्तर मोटो॥
भाव कुभाव धरी मन भेदत, नाहिं संवेग पदारथ छोटो।
ज्ञान कहे शिवसाधनको, जैसे शाहको काम करे जु वनटो॥५॥

इति संवेग भावना ।

(६) शक्तितस्त्याग भावना।

शक्तितस्त्याग— अर्थात् शक्ति अनुसार त्याग (दान) करना ।

दान चार प्रकारका होता है-आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान। ये चारों दान निश्चय और व्यवहाररूपसे दो प्रकार हैं—

निश्चय आहारदान—अपने व परके आत्मामें उस अव्याबाध गुणको (वेदनी कर्मको नाश कर) प्रगट कर देना, कि जिससे क्षुधा ही न लगेगी तो क्षुधाके उपशमार्थ जो आहार किया जाता है, उसके भक्षणकी भी आवश्यकता न रहेगी, यही निश्चय आहारदान है।

व्यवहार आहारदान—अपनी व परकी क्षुधाके उपशमार्थ शुद्ध प्रासुक खाद्य सामग्रियोंका भक्षण करना व कराना ।

निश्चय औषधिदान—अपने व परके आत्माको जन्म, जरा, मृत्यु, इन त्रिरोगोंसे छुड़ाकर अविनाशी अखण्ड सुखोंको प्राप्त करा देना, सो निश्चय औषधिदान है।

व्यवहार औषधिदान—शुद्ध प्रासुक औषधियोंके द्वारा अपने व परके शरीरमें उत्पन्न हुवे, वात पित्त व कफादिकके प्रकोपनसे जो रोगादिक उत्पन्न होवे उनको दूर करना सो व्यवहार औषधिदान है।

निश्चय शास्त्रदान—अपने व परके आत्मामें सम्यक् ज्ञानशक्तिका विकाश कर देना।

व्यवहार शास्त्रदान—पढ़ना व पढ़ाना, उपदेश करना व कराना, पुस्तकें तथा शास्त्र प्रकाशित कर जिज्ञासु जनोंमें

वितरण करना, सरस्वती भण्डार तथा वाचनालय स्थापित करना, विद्यालय बनवाना, उत्तीर्ण छात्रोंको पारितोषिक देकर उनके उत्साहको बढ़ाना, जनसाधारणमें विद्याका प्रचार करना ग्रन्थोंका सर्वसाधारणमें प्रचारार्थ अनेक भाषाओंमें भाषान्तर (उल्था) करना, प्राचीन शास्त्रोंकी खोज करना. जीर्ण ग्रन्थोंका फिरसे लिखवाना, ग्रन्थोंको इतने सरल और इस ढंगसे लिखें कि जिससे हरकोई समझ सके । सदा ऐसे भाव रखना कि कोई भी प्राणी सम्यग्ज्ञानसे वंचित न रह जावे इत्यादि, सो व्यवहार शास्त्रदान है ।

निश्चय अभयदान—अपने व परके आत्माओंको विषय कषाय (मोह) रूप प्रबल वैरीसे बचाना अर्थात् किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी संक्लेशता न होने देना ।

व्यवहार अभयदान—अपने व परके प्राणोंकी रक्षा करना, मरनेको यथाशक्ति प्रयत्न करके बचाना, उनका भय दूर करना सो व्यवहार अभयदान है ।

दान—यथार्थमें वही कहा जाता है-जो स्वपरोपकारार्थ दिया जाता है, जैसा कि तत्वार्थसूत्रमें कहा है "अनुग्रहार्थस्यस्यातिसर्गो दानम् ।" और जिस दानसे विषयकषायोंकी अपने व परके परिणामोंमें तीव्रता होवे, वह दान दान नहीं कहा जा सकता है, वह कुदान है ।

उक्त चारों व्यवहारदान निम्नलिखित चार प्रकारसे दिया जा सकता है-भक्तिदान, करुणादान, समदान, कीर्तिदान ।

अपनेसे गुणाधिक्य महापुरुषोंको दान करना सो भक्तिदान है । यह दान सुपुत्रों (मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका इन चार प्रकार संघों) को ही भक्तिभावसे दिया जाता है ।

दुःखित, भुखित, दीन, अनाथ, असहाय, निर्बल जीवोंको

उनके दुःख दूर करनेके विचारसे जो दान दिया जाता है सो करुणादान है। इसमें सुपात्र कुपात्र विचारकी मुख्यता नहीं है, किन्तु करुणा (दया) भावकी ही मुख्यता रहती है।

अपने ही समान पुरुषों सम्बंधियों जैसे माता, पिता, भाई, बहिन, फुवा, भानजी, बेटी, बेटा, जंवाई, बहनोइ, साला, ससुर, समधि, समधन, बिवाई बिवाहन आदिको जो द्रव्य भेट स्वरूप देना (दान करना), सहायता पहुंचाना, भोजनादि करना, जीमनवार करना, जातिभोजन करना इत्यादि, सब सम दान या व्यवहारदान है। इसमें भी पात्रापात्रके विचारकी मुख्यता नहीं है, केवल अपने व्यवहारकी मुख्यता है। क्योंकि इसमें प्रायः बदला भी होता है। यह दान लिया भी जाता है और दिया भी जाता है।

कीर्तिदान—जो अपने व्यवहारानुसार केवल मान बड़ाई पानेके विचारसे दिया जाता है। इसमें भी पात्रापात्रके विचारकी मुख्यता नहीं है, केवल कीर्ति (यश) प्राप्त करने व मान बड़ाई पानेकी ही मुख्यता है। इन चारों प्रकारोंमें सबसे उत्तम भक्तिदान है, क्योंकि वह सुपात्रों ही को ज्ञान-चारित्रकी वृद्धिके अर्थ दिया जाता है।

उसके बाद करुणादान भी उत्तम माना गया है। यद्यपि इसमें पात्रापात्रके विचारकी मुख्यता नहीं होती, तौ भी करुणाभावोंसे जो निःस्वार्थ परोपकार किया जाता है, इसीसे सराहनीय है परोपकार करना भी गृहस्थोंका एक मुख्य कर्तव्य कहा है—

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः, परोपकाराय दुहन्ति गावः।
परोपकाराय वहन्ति नद्यः, परोपकारार्थमिदं शरीरम्॥

अर्थ—परोपकारके लिये वृक्ष फलते हैं, गाय दूध देती है, नदी बहती है, तब यह शरीर भी परोपकारके लिये है। और कहा है—

तरुवर कबहु न फल भखैं, नदी न पीवे नीर।
पर उपकार ही कारणे, धन जिन्ह धरो शरीर॥

समदान—मध्यम है क्योंकि यहांपर परम्पराके व्यवहार चलानेहीकी मुख्यता है और यह गृहस्थोंको कभी कभी लाचार होकर, पासमें द्रव्य न होते हुवे भी उधार लेकर करना पड़ता है, यह यथार्थमें दान नहीं है, बदलेका बदला है या जातिका ऋण है, जो देना लेना पड़ता है। इसकी इस समय विशेष आवश्यकता बढ़ानेको नहीं है।

कीर्तिदान—यह निकृष्ट वा कुदान है। इसको बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इससे दाता और पात्र दोनोंके विषयकषायों तीव्रता होती है। इस दानने ही इस देशमें भिखारियोंकी संख्या बढ़ा दी है, या यों कहो कि देशको भिखारी बना दिया है, इसी दानके लोलुपी बड़े बड़े लष्टमुष्ट संडे मुस्तण्डे पचहते लोग परिश्रमसे परांगमुख होकर झटसे अनेक प्रकारके ढोंग बनाकर मांगने लग जाते हैं।

वे कहते हैं—

"जो बिना परिश्रमसे आय, तो काम करे बलाय!"

हाय! ए निर्लज्ज कायर पुरुष कैसे ढोंग रचते हैं? कोई चमोठा लेकर भस्म लगाये घूमते हैं, कोई जटा बढ़ाये फिरते हैं, कोई२ कफनी रंगे, कोई नख बढ़ाये, कोई नो रमाये रहते हैं, कोई उल्टे लटक जाते हैं, कोई जमीनमें सिर गाड़कर

रहते हैं, कोई पानीमें डुबकी लगाते हैं, कोई आसन लगाते हैं, कोई दुवा देते फिरते हैं, कोई गालियां ही बकते फिरते हैं, कोई अकेले रहते हैं, कोई जमात इकट्ठी करते हैं, कोई सिर फोड़ते फिरते हैं; कोई पागल बन जाते है, कोई भविष्य बताते फिरते हैं, कोई तेल पीते हैं, कोई कुस्ती लड़ते हैं, कोई कीर्तन सुनाते फिरते हैं, कोई नाचते गाते डोलते हैं, कोई घरोघा कथा सुनानेका ढोंग रचते हैं, कोई मंत्र यंत्र झाड़-फूंकका घटाटोप लगाते हैं, इत्यादि नानाप्रकारसे दूसरोंकी कमाई पर हाथ फेरते हैं।

जो इन्हें कुछ देता है, उसकी झूठी स्तुति प्रशंसा करने लगते हैं, और यदि कुछ न मिला तो सूम मक्खीचूस आदि कहकर गालियां देने लगते हैं, फल इसका यह होता है कि गेहूंओंके साथ घुण भी पिस जाता है। अर्थात् दानकी प्रथा भी उठती आती है, और इन धूर्तोंके कारण बिचारे सच्चे साधु पुरुष और दीन दुःखी अपाहिज भी दानसे वंचित रह जाते हैं। इसलिये धर्मदृष्टिसे तो भक्तिदान और करुणादान ही करना चाहिये। परन्तु व्यवहार साधनार्थ समदान करना आवश्यक पड़ता है, और कीर्तिदान तो देना ही व्यर्थ है, क्योंकि यह अपने व परको हानिकारक है।

गृहस्थ मात्र दान देनेके अधिकारी दाता हो सकते हैं।

अब पात्र अर्थात् दान लेनेवालोंका विचार करते हैं।

पात्र तीन प्रकारके होते हैं-सुपात्र, कुपात्र, अपात्र और प्रत्येक उत्तम, मध्यम और जघन्यके हिसाबसे तीन तीन प्रकारके होते हैं, इस प्रकार कुल ९ भेद हुए, इनमें भी सुपात्रोंके उत्तम मध्यम और जघन्यके भी उत्तम मध्यम और जघन्य इस प्रकार तीन तीन भेद होनेसे कुल १५ भेद होते हैं जो कि नीचेके नकशेसे विदित होंगे—

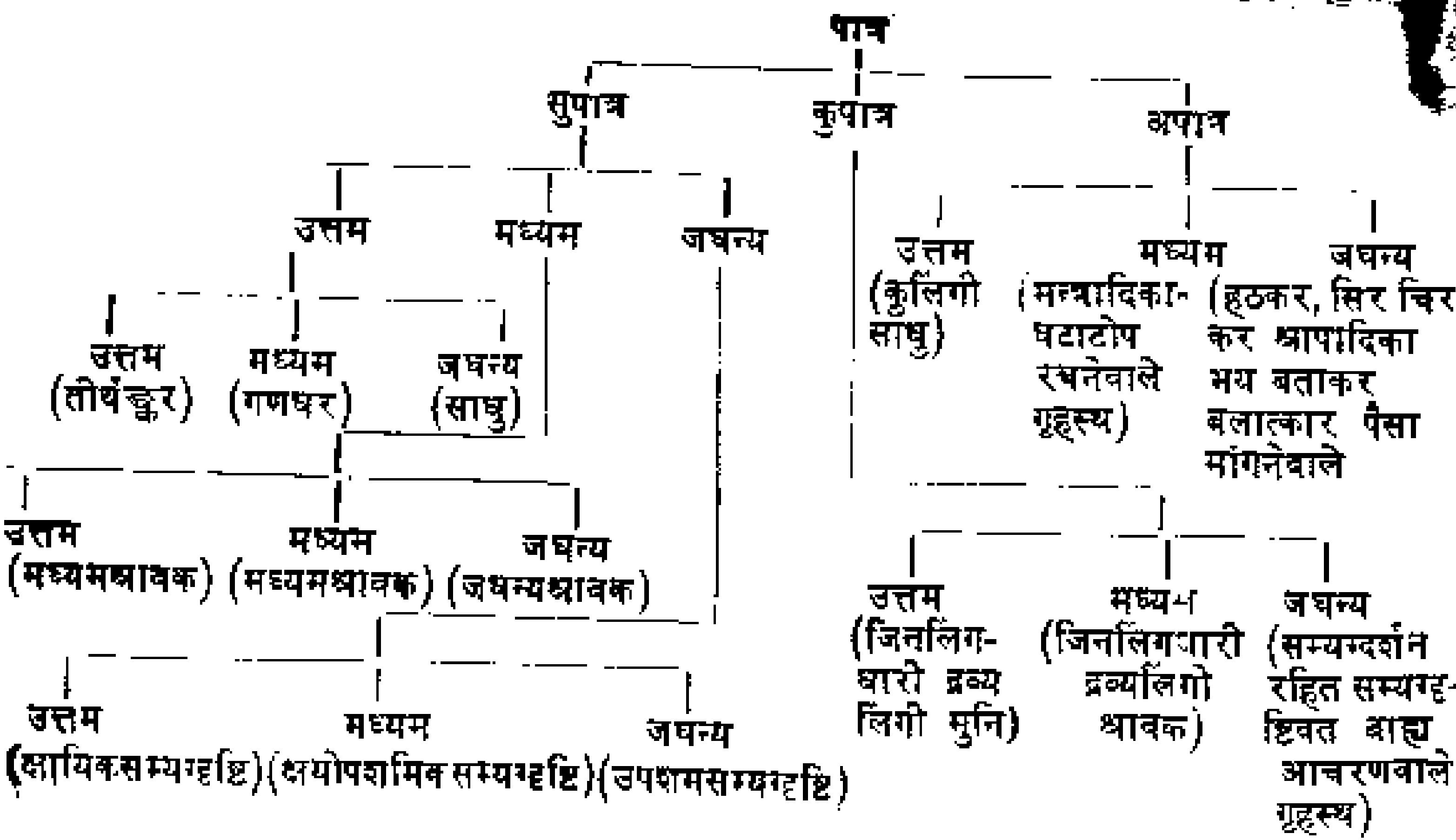
पात्र
सुपात्र
कुपात्र
अपात्र
उत्तम
मध्यम
जघन्य
उत्तम (तीर्थङ्कर)
मध्यम (गणधर)
जघन्य (साधु)
उत्तम (मध्यमश्रावक)
मध्यम (मध्यमश्रावक)
जघन्य (जघन्यश्रावक)
उत्तम (क्षायिकसम्यग्दृष्टि)
मध्यम (क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टि)
जघन्य (उपशमसम्यग्दृष्टि)
उत्तम (कुलिंगी साधु)
मध्यम (मन्त्रादिका-घटाटोप रखनेवाले गृहस्थ)
जघन्य (हठकर, सिर चिर कर श्रापादिका भय बताकर बलात्कार पैसा मांगनेवाले
उत्तम (जिनलिंग-धारी द्रव्य लिंगी मुनि)
मध्यम (जिनलिंगधारी द्रव्यलिंगी श्रावक)
जघन्य (सम्यग्दर्शन रहित सम्यग्दृष्टिवत बाह्य आचरणवाले गृहस्थ)

वर्तमान कालमें सुपात्रोंका प्राप्त होना तो दुर्लभसा ही है, और सुपात्र कुपात्रकी परीक्षा करनेवाले व जानकार भी अल्प हैं। इसलिए बाह्य भेष (लिंग) ही की प्रधानता प्रायः देखी जाती है। सो बाह्य भेषधारी यथार्थ प्रवृत्ति करनेवाले भी कदाचित् ही देखे जाते हैं, तब क्या दानकी प्रथा ही उठा देना चाहिये ? क्योंकि अपात्रोंको दान देनेकी अपेक्षा तो द्रव्यको जंगलमें फेंक देना अच्छा है, उससे अनर्थ तो न बढ़ेगा, केवल द्रव्य ही का व्यय है। और सुपात्र मिलना दुर्लभ है।

तो उत्तर यह है—कि दान (त्याग) से अपना मोहभाव कम होता है। इससे उदारता बढ़ती है, स्व-पर कल्याण होता है, इसलिये दानकी प्रथा चलाना तो आवश्यक है। अब रहा पात्रापात्रका विचार, सो ऊपरके नकशेसे मिलान करके देखना। यदि सुपात्र मिल जावें तो धन्यभाग समझकर भक्तिपूर्वक दान देना। इस सुपात्रदानका फल ऐसा है, जैसे—वटका बीज अति अल्प होनेपर भी बहुत बड़ा वृक्ष उत्पन्न करता और बहुत फलता है। इसीप्रकार सुपात्रोंको दिया हुवा दान स्वर्गादि सुख तथा अनुक्रमसे मोक्षका दाता होता है। कुपात्रोंको दिया हुवा दान, कुभोगभूमि आदिको प्राप्त कराता है, अथवा तिर्यंचगतिमें किसी राजादिके घोड़ा हाथी आदिकी पर्यायको प्राप्त कराता है। राजाओंके घोड़ों हाथियों आदिको मनुष्योंसे भी अधिक सुख तो होता है, परन्तु मनुष्योंके जैसी स्वतंत्रता नहीं होती है।

अपात्रदानका फल नर्क निगोद है। इसलिये यह तो सर्वथा त्याज्य है। इसलिये वर्तमान कालमें नग्न मुनिलिंगधारी २८ मूलगुणोंसहित मुनि न मिलें तो ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी त्यागी, उदासीनवृत्तिवाले विरक्त श्रावक तो मिलते हैं; परन्तु

थोड़े हैं, सो उनके भी न मिलने पर सबसे उत्तम दान विद्यार्थियोंको हो सकता है, अर्थात् वे जबतक विद्या अध्ययन करते हैं, वहांतक उनके समान सत्पात्र तो कदाचित् ही कोई मिले।

बस उन (विद्यार्थियों) के विद्योपार्जनके मार्गमें जो जो अड़चनें होवें उनको यथासंभव दूरकर मार्ग निष्कंटक कर दिया जाय, और भेदभाव रहित सर्वसाधारणको सद्विद्याका दान दिया जाय। जो विद्यार्थी भोजन चाहें उन्हें भोजन, किसीको पुस्तकें, फीस, रहनेको स्थान इत्यादिका सुभीता कर दिया जाय।

बस, इस समय ये ही सत्पात्र हैं। इनके लिए विद्यालय (कालेज) पाठशाला (स्कूल), छात्राश्रम, गुरुकुल इत्यादि खोल दिए जांय, उनमें मुख्यगौणका भेद लिए हुए व्यवहारिक और धार्मिक शिक्षणका उचित प्रबन्ध कर दिया जाय, योग्य निरीक्षक परीक्षक नियत किये जांय, छात्रवृत्ति और पारितोषिक आदिका प्रबन्ध किया जाय, बस यही सत्पात्रदान हो सकता है।

यद्यपि ऊपर औषधि शास्त्र, अभय और आहार चारों ही प्रकारका दान कहा है, परन्तु उक्त चारों दानोंमें वस्त्र, वस्तिकादि पात्र योग्य पदार्थ भी गर्भित है, जैसे साधुओंको पीछी कमंडलु शास्त्रादि, श्रावकोंको पात्र (वर्तन), वस्त्र, वस्तिका, पुस्तकादि भी गर्भित है, । धर्मशाला बनवा देना, दानशाला, औषधालय खुलवाना, भूलोंको मार्ग बतानेका प्रबन्ध कर देना यह सब ही उत्तमदान है।

दान देना गृहस्थोंका कर्तव्य है, और पात्रोंका कर्तव्य है कि दानका सदुपयोग करना।

दान न देनेसे भी लक्ष्मी स्थिर नहीं रहेगी, न वह साथ ही जावेगी, तब क्यों उसे (लक्ष्मीको) जो संचय करनेमें कष्ट और रक्षा करनेमें कष्ट दे, छोडकर [illegible] ही निरुपयोगी बनाई जाय ? इसलिये यही कर्तव्य है कि कष्ट व परिश्रमसे उपार्जन की हुई लक्ष्मीको दानमें लगाकर सदुपयोग किया जाय। ऐसा कहा भी है—

पात्र चतुर्विधि देख अनूपम, दान चतुर्विधि भावसे दीजे।
शक्ति समान अभ्यागतकी, निज आदरसे प्रतिपत्त करीजे॥
देवत जो नर दान सुपात्रहि, तास अनेकहि कारज सिज्झे।
ज्ञान कहे शुभ दान करे तो, भोग सुभूमि महा सुख लीजे॥

इति शक्तितस्त्याग भावना ॥ ६ ॥

(७) शक्तितस्तप भावना।

तप—सम्यक् प्रकार इच्छाओंका निरोध करना सो तप है। और यह तप बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है और फिर दोनोंके छः भेद हैं, इस प्रकार बारह प्रकार तप हुए।

अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश ये ६ बाह्य तप हैं।

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये ६ अन्तरंग तप हैं।

अनशन—अर्थात् लौकिक सत्कार ख्यातिलाभ पूजादिकी इच्छाके बिना संयमकी सिद्धिके लिये, वा रागादि भावोंके उच्छेद करनेके लिये, वा कर्मोंके नाश करने लिए वा ध्यान स्वाध्यायकी सिद्धिके लिए वा इंद्रियोंको विषयोंसे रोकने (दमन करने) के लिये, प्रमादादि कषायोंको जीतनेके लिये भोजन-पानका त्याग करना सो अनशन नामका तप है।

ऊनोदर—उक्त प्रयोजनके ही सिद्धयर्थ अल्प भोजनपान करना।

वृत्तिपरिसंख्यान—अपनी शक्ति बढ़ाने तथा स्वशक्तिकी परीक्षा करनेके लिये अपने शरीरकी शक्ति देखकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावानुसार किसी प्रकारके विशेष नियमोंको मनमें धारण करके कि एक, दो या पांच, सात इत्यादि घरों तक ही जाऊंगा, या एक दो या अमुक टोला (फलिया तक जाऊंगा), या रास्ते या मैदानमें ही भोजन मिलने पर लूंगा, इत्यादि तक भोजनको गमन करना और यदि नियमानुकूल विधिसे भोजनलाभ न हुआ तो बिना किसी प्रकारका खेद किये ही पीछे वनमें उपवासादि धारण कर लेना।

रसपरित्याग—संयमकी वृद्धि और इन्द्रियलोलुपताके घटानेके लिये खट्टा, मीठा, कडुवा, कसैला, तीखा आदि अथवा गोरस, फलरस धान्यरस, अथवा घी, दुध, मिष्टान, तैल. दही और लवणादि रसोंका अथवा इनमेंसे किसीका त्याग करके भोजन करना।

विविक्त शय्यासन—वन, गुफा, पर्वत, वस्तिका तथा जिनालय आदि एकान्त स्थानमें जहां ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन इत्यादिमें कोई भी विघ्न आनेकी संभावना न हो, वहां शयन व आसन करना।

कायक्लेश—शरीर से निर्ममत्व होकर क्षुधादि परिषहोंको तथा चेतन अचेतन पदार्थों द्वारा उत्पन्न हुए उपसर्गोंको सहन करना, कठिन तप करना ।

प्रायश्चित—प्रमादके निमित्तसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना ।

विनय[1]—पूज्य पुरुषका आदर करना ।

वैयावृत्य—मुनियोंकी सेवा टहल करना ।

स्वाध्याय—प्रमादको छोड़ ज्ञानोपार्जन करना, कराना, वांचना, पूछना, अनुप्रेक्षा करना, शुद्ध घोखना तथा उपदेशादि देना ।

व्युत्सर्ग—बाह्याभ्यंतर परिग्रहोंसे सर्वथा ममत्व त्याग करना ।

ध्यान—सब ओरसे चित्तको रोककर एक ओर लगा देना । ये ध्यान चार प्रकारके हैं । दो ध्यान रौद्र और आर्त तो निकृष्ट अर्थात् त्याज्य हैं ये संसारके कारण हैं । और दो ध्यान धर्म और शुक्ल उत्तमोत्तम हैं, ये स्वर्गादिक उच्च गति और मोक्षके कारण उपादेय हैं ।

इस प्रकार तपके बारह भेद कहे परन्तु इसका यह प्रयोजन नहीं है कि जिस प्रकार कहा गया है उसमें कुछ भी न्यूनता हो ही नहीं सकती है । नहीं नहीं, न्यूनता अपनी शक्तिके अनुसार हो सकती है । जैनधर्ममें कोई भी व्रतादिक ऐसे नहीं हैं कि जो सर्वसाधारण उनसे वंचित रह जांय, किन्तु सभी अपनी अपनी शक्ति अनुसार धारण कर सकते हैं । विशेषता केवल यही है कि जितना हो, वह सच्चा हो, विपर्यय मार्गमें ले जानेवाला न हो । क्योंकि थोड़ेसे अधिक और पूर्ण तो हो सकता है परन्तु विपर्ययका यथार्थ होना कष्टसाध्य है ।

१–विनयका स्वरूप विनयसम्पन्नता नाम भावनामें कह चुके हैं ।

ऐसा समझकर स्वशक्त्यनुसार सभीको तपका अभ्यास करना चाहिये । क्योंकि संसारमें यदि दुःख है, तो केवल आकुलता (इच्छाओंके होने) का है और तपसे इच्छाओंका निरोध (रुकावट) होता है, अतएव इच्छाओंके रुकते ही दुःख नहीं होता है, और दुःखका न होना ही सुख है इसलिये सुखाभिलाषी प्राणियोंको शक्ति अनुसार तप करना आवश्यक है । तपसे केवल पारमार्थिक सुख होता है, यह बात नहीं है, व्यवहारिक सुख भी होता है । जिनको कुछ भी क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परिषहोंके सहनेका अभ्यास है, वे कहीं भी रुक नहीं सकते हैं, सदा सर्वत्र विहार कर सकते हैं । और अचानक आये हुवे कष्टोंको वीरतासे साम्हना करते हैं । उनसे न तो घबराते हैं, और न खेद ही करते हैं । आप तो धैर्य रखकर कार्य करते ही हैं, परन्तु औरोंको भी सहायता पहुंचाकर राह लगाते हैं । और अपने व परके धर्मकी रक्षा करते हैं, परन्तु जिन्हे अभ्यास नहीं हैं, वे थोडी ही विघ्न-बाधाओंसे घबराकर धर्म. कर्म भूलकर मार्गभ्रष्ट हो बहुत दुःख पाते हैं ।

यह तो निश्चयहीसा है कि—"श्रेयांसी बहुविघ्नानि" अर्थात् उत्तम कार्योंमें प्रायः बहुत विघ्न आया करते हैं परन्तु जो उनसे नहीं डरते वे ही उत्तम कहे जाते हैं ।

कहा भी है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः ।

विघ्नाः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति ॥

(इति चाणक्यनीति)

अर्थ—नीच मनुष्य तो विघ्नके भयसे कार्यारम्भ ही नहीं करते हैं, और मध्यम पुरुष आरम्भ करके विघ्न आनेपर अधूरा ही छोड़ देते हैं; परन्तु उत्तम पुरुष बारम्बार विघ्न आनेपर भी कर्त्तव्यसे नहीं हटते हैं, अर्थात् आरम्भ किये हुए कार्यको पूरा करके ही छोड़ते हैं ।

तात्पर्य—जो सदैव विघ्नोंसे डरते ही रहते हैं, वे कभी कोई कार्य प्रारम्भ ही नहीं कर सकते हैं, और यदि प्रारम्भ किया हो तो सफल नहीं कर सकते हैं, और इस प्रकार होते होते वे इतने पतित हो जाते हैं कि हर एक आदमी उनसे घृणा करने लगते है । वे इतने कायर हो जाते हैं, जिससे सबलोंसे सताये जाते हैं, उनका सर्वस्व हरण हो जाता है, और वे घरोंघर मारे मारे फिरते हैं । यहांतक हो जाता है कि उनको उन्हींकी वस्तु भिक्षा मांगनेपर भी पीछे नहीं मिलती है ।

दूसरी एक बात यह है कि कर्मका उदय सबको सदा एकसा तो रहता ही नहीं है, सदा बदलता रहता है, न जाने किस समय कैसा कर्म उदय आ जाय । तो ऐसे कठिन अवसरमें फिर बिना अभ्यासके क्या कर सकता है ? क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि जो कल धनी थे, जिनकी लाखोंकी कोठियां चलती थीं, आज उनका दिवाला निकल गया, वे पंसे पैसेको तंग हो गये । जो हृष्टपुष्ट थे, रोगोंसे जर्जरित हो गए । जो रूपवान थे, वे काने, अन्धे, लंगड़े और कुरूप हो

गये । जो बहु कुटुम्बी थे, उनके पीछे कोई नाम लेनेवाला भी नहीं रह गया है, इत्यादि । और कई निर्धनसे धनी, रोगीसे निरोग, कुरूपसे सुरूप और अकेलेसे बहु कुटुम्बी हो गये हैं। यह कर्मकी विचित्रता है । जो कर्म पूर्वकालमें बांधे हैं वे अवश्य उदयमें आकर रस देंगे ही । इन (कर्मोंसे) वही सामना कर सकता है, जिसको तपका अभ्यास है । वे ही कर्मरूपी अभेद्य गढ़को भेद सकते हैं, वे ही इस महापर्वतको फोड़ सकते हैं । इसलिये तपका अभ्यास करना आवश्यक है। तपके अभ्यासी कठिनसे कठिन समयमें भी दुःखी नहीं होते हैं, और न उन्हें प्रायः कोई व्याधि (रोग) ही सताती है । क्योंकि उनका आहार विहार परिमित अवस्थामें रहता है । वे इन्द्रियलंपटतावश होकर कभी सीमा उल्लंघन नहीं करते हैं।

आजकल लोग प्रायः अपने पुत्र पुत्रियोंको बाल्यावस्थासे ही इतने सुकुमार (निर्बल और कायर) बना देते हैं कि वे थोडी भी सर्दी गर्मी सहन नहीं कर सकते हैं, विना घी दूध चीनी आदि पदार्थोंके भोजन ही नहीं कर सकते हैं थोड़ा मसाला कम बढ़ हुआ कि भूखे रह जाते है । देशान्तरोंमें वा निमन्त्रण आदिमें दूसरोंके घरकी रसोई उनको रुचिकर ही नहीं होती है । प्रथम तो कहीं भी जानेहीसे हिचकते हैं, और कहीं भिन्न भिन्न प्रकारका भोजन करना दण्ड समझते हैं, परन्तु जिन्हे अभ्यास है वे कही भी भूखे न रहेंगे जिह्वा-लंपटताके कारण धर्म छोड़ेंगे, उन्हें सरस वा नीरस चाहे जिस प्रकारका भी भोजन क्यों न मिले, परन्तु यदि वह श्रावक धर्मकी क्रियासे अनुकूल भक्ष्य होगा, तो वे सहर्ष खाकर क्षुधाको मिटा लेंगे, उन्हें कुछ भी कष्ट न होगा, वे धूप व ठंडसे किंचित् भी न घबरायेंगे, बात बातमें

वैद्यकी आवश्यकता न रखेंगे, और सदा अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहेंगे इत्यादि ।

मैं स्वानुभवसे कह सकता हूं कि बालकोंको इस प्रकारके कोमल निर्बल, कायर और लोलुप बनाना क्या है ? मानों बालकोंके साथ घोरतम शत्रुता ही करना है, चाहे लोग भले ही इस अनर्थको प्रेम समझें । बहुतसे माता पिता अपने बालकोंकी प्रशंसामें निम्नलिखित वाक्य कहकर अपनेको हर्षित करते हैं कि हमारा बेटा या भाई बहुत ही कोमल है, वह तनिक भी शीत उष्ण नहीं सह सकता है, न उसका कहीं पेट भरता है, एक ग्रास कम बढ़ हुआ कि बस, उसका पेट दुखने लगता है इत्यादि, परन्तु मैं तो इस सुकुमारताको कायरता ही समझता हूं ।

मेरे विचारसे बच्चोंको बाल्यावस्थासे ही सहनशील, साहसी और दृढ़ बनाना चाहिये । क्योंकि निर्बल मनुष्य न तो संसार व्यवहार ही भले प्रकार चला सकता है, और न परमार्थ ही कर सकता है । क्योंकि आजतलक जितने जीव मोक्ष गये व आगे जायेंगे, वे सब बहुत बलवान वज्रवृषभ नाराच संहननवाले ही थे, और होंगे ।

देखो पार्श्वनाथ प्रभु कमठके उपसर्गसे नहीं डिगे । देश-भूषण—कुलभूषण स्वामीने दुष्ट राक्षस कृत उपसर्ग जीता । और भी सुकुमाल सुकौशल, पांडवादि महामुनियोंने घोर उपसर्ग सहन किये और परम पद पाया है । इसलिये यथा-शक्ति ऊपर कहें अनुसार बारह प्रकारके तपोंका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये क्योंकि कहा है—

धाप पहार गिराधनको तप, शक्ति समान अबांछक कीजै ।
बाह्यि अंतर बारह भेद, तपो तप पाप जलांजलि दीजे ॥
भाव धरी तप घोर करी, नर-जन्मतनो फल काहे न लीजे ।
ज्ञान कहे तप जो नर भावत, ताके अनेक ही पातक छीजे ॥७॥

इति तप भावना ।

(८) साधुसमाधि भावना ।

साधु समाधि—अर्थात् आयुके अंतमें निःशल्य होकर प्राणोंका विसर्जन करना इसे साधु समाधि अथवा संन्यास मरण कहते हैं । जिस समय प्राणी अपनी वृद्धावस्था हुई जाने अथवा अपने आपको असाध्य रोगसे ग्रसित हुआ देखे अथवा शत्रुके सन्मुख युद्धस्थलमें मरणोन्मुख घावोंसे जर्जरित शरीर हुआ जाने या अन्य प्रकारसे शत्रुके हस्तगत हो मृत्युका साम्हना लाचार होकर करना पड़े या अथाह समुद्रमें नाव आदिके टूट जाने व अन्य कारणोंसे गिर पड़ा हो, गिरि वनादिमें मार्गभ्रष्ट हो गया हो, चहुं ओर अग्निकी ज्वालाओंसे घिर गया हो अथवा और भी किसी प्रकारसे जब उसे यह निश्चय हो जावे, कि अब अवश्य ही मुझे इस वर्तमान शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, अब इसकी रक्षाका कोई उपाय नहीं है, तो निशल्य होकर अर्थात् माया, मिथ्या और निदान इन तीनों

शल्योंको छोड़कर शरीरसे ममत्वको छोड़ देवे । क्योंकि जो हमें छोड़ना चाहता है, या बलात्कार हमसे अलग हुवा चाहता है, उसे हम उसके छोड़नेके पहिले ही यदि छोड़ देवें, तो हमको उससे निर्ममत्व भाव होनेके कारण किंचित् भी दुःख न होगा, और तुम सानन्द उससे छुटकारा पा जावेगे ।

प्रथम तो यदि यथार्थ समाधि बन जावे, तो पुनः शरीर धरना (जन्म मरण करना) ही न होगा । और कदाचित् कोई पूर्वसंचित कर्मोंका फल भोगना शेष रह गया हो, कि जिसके लिये शरीर धारण करना पड़े तो स्वर्गमें उत्तम देव अथवा मनुष्योंमें राजा आदि उत्तम मनुष्य होंगे जो कि एक दो आदि बहुत ही कम भव धारण करके सदाके लिये शरीर (जन्म मरण) से रहित होकर परमपदको प्राप्त करेंगे ।

यह तो निश्चय है, कि इस शरीरको किसी न किसी दिन छोड़ना ही पड़ेगा, क्योंकि जब तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण आदि ६३ शलाका पुरुषोंका ही शरीर स्थिर नहीं रहा है तो अन्य शक्तिहीन जीवोंका शरीर स्थिर रह सकेगा, यह कल्पना आकाशमें महल बनानेके सदृश है ।

और जब यह स्थिर ही न रहेगा तो इससे ममत्व करना (रखना) मूर्खता नही तो क्या है ? क्योंकि इससे ज्ञाता पुरुष कभी अस्थिर पदार्थको नही अपनाते हैं, न उसके उत्पन्न होने व नाश होनेसे कभी अपने भावोंको विचलित करते हैं। कारण कि वे जानते हैं कि वस्तुका स्वरूप ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है । वह पर्यायापेक्षा उत्पन्न और नाश होता है, और द्रव्य अपेक्षा सदा ध्रौव्य रहता है । जो इसमें रागद्वेष करता है, वही इस असार संसारमें जन्म मरणके दुःखको सहता है । इसलिये यही उत्तम है, कि इससे निर्ममत्व होना ।

यद्यपि यह शरीर (नरदेह) जप, तप, व्रतादिके द्वारा मोक्षका साधनरूप बाह्य कारण है, और इसीलिये मुनिराज भी इस शरीरकी यथासंभव रक्षा करनेके लिये उदासीन रूपसे गृहस्थोंके द्वारा प्राप्त हुए शुद्ध प्रासुक निर्दोष निरंतराय आहार तथा औषधादि ग्रहण करते हैं । परन्तु जब देखते हैं कि अब उपाय करना व्यर्थ है अर्थात् इस (शरीर) की रक्षाकी चिंता करनेसे भी रक्षा न हो सकेगी, किन्तु उलटा खेद ही होगा तो वे इससे ममत्व छोड़कर एकान्त स्थानमें एकाकी किसी एक आसनसे आत्मध्यानमें लीन हो जाते हैं । वे यम (यावज्जीव) अथवा नियम (रोगादिक प्राणघाती उपसर्गके दूर होनेतक घडी, पहर, दिन, पक्ष, मास अयनादिका प्रमाण) करके प्रतिज्ञा पूर्वक आये हुवे उपसर्ग व परीषह आदिको प्रसन्नतासे सहन करते हैं । और अंतमें शरीरका त्यागकर स्वर्ग मोक्षादि गतिको प्राप्त करते हैं । उपसर्ग व परीषहोंके आनेपर ध्यान तभीतक विचलित हो सकता है, जबतक कि साधकका शरीरसे कुछ भी प्रेम हो, सो जब शरीरसे कुछ प्रेम नहीं रहता है तब आत्माको (जो इस जड़ पुद्गलमय शरीरसे सर्वथा भिन्न स्वाश्रित केवलज्ञानानन्द स्वरूप चैतन्य अमूर्तीक अखंड अविनाशी अनूप पदार्थ है) कैसे दुःख हो सकता है, इत्यादि ।

इस प्रकार विचार करके आत्मध्यानमें निमग्न हो जाते हैं । इस प्रकारसे समताभावपूर्वक दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन चार आराधनाओंको आराधते हुवे जिनका मरण होता है, सो समाधिमरण कहलाता है ।

यह समाधिमरण उन्हींका हो सकता है कि जिनको चिरकालसे उपसर्ग व परीषहादि सहन करने और विषय

कषायोंके मन्द करनेका अभ्यास है। जिन्होंने अपने शरीरको इतना दृढ़ बना रखा है, और मन तथा इन्द्रियोंको वश कर लिया है, जो रागद्वेषादि शत्रुओंके आधिन नहीं हैं, जिनके अन्तरंगसे संसारमें कोई शत्रु नहीं है, जो सदा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओंका विचार किया करते हैं, जिन्होंने इच्छाओंका सर्वथा नाश कर दिया है, जो चारों प्रकारके (धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष) पुरुषार्थोंके साधनमें तत्पर रहते हैं, जो प्रमाद और कायरतासे पराङ्गमुख हैं जो मोह, शोक, भय, ग्लानि, चिंता, हास्य, रति अरति इत्यादिमें कभी फंसकर नहीं रहते हैं, जो सदा स्वदोष स्वीकार और परगुण ग्रहण करनेको तत्पर रहते हैं, और स्वगुण कीर्तन व परदोष कथनसे अपने आपको बचाते रहते हैं सदा साधु (सत्पुरुषों) जनोंकी संगतिमें अथवा ज्ञानाभ्यासमें कालयापन करते हैं, स्वपर उपकारमें दत्तचित्त रहते हैं, सांसारिक सुखोंको भोगते हुवे भी उनसे विरक्त रहते हैं जो सदा प्रसन्नमुख रहते हैं, मृत्युको अपना उपकारी समझते हैं इत्यादि, इस प्रकारके चिराभ्यासी पुरुष ही समाधिमरण कर सकते हैं।

जिस प्रकार घरमें आग लगनेपर कुआ खोदकर घरकी रक्षा करना कठिन है उसी प्रकार आसन्न-मृत्यु पुरुषको समाधिमरणका प्राप्त होना कठिन है; क्योंकि जीवको आयुकर्मके सिवाय अन्य सात कर्मोंका बन्ध प्रति समय होता ही रहता है और उसीके अनुसार त्रिबलीमें आयुका बन्ध होता है तथा बन्धके अनुसार ही अन्तसमयमें परिणाम हो जाते हैं। इसलिये उससे कदापि समाधिमरण नहीं हो सकता है, इसलिये पहिलेसे ही अभ्यास करना आवश्यक है

समाधिमरणकी इच्छा रखनेवाले प्राणियोंको चाहिये कि वे आसन्न-मृत्युका कारण देखकर या अपनी वृद्धावस्थाका विचार कर प्रथम ही अपनी संपत्तिकी (यदि गृहस्थ हो तो) व्यवस्था करके अर्थात् जिसको जिस प्रकार देना हो, सो विभाजित कर शेष द्रव्य धर्मकार्योंके निमित्त प्रदान कर उससे अपने आत्माको निर्ममत्व करे, पश्चात रागद्वेषके परिहारार्थ अपने पर्याय सम्बन्धी शत्रुओं (अर्थात जिनसे कुछ भी रागद्वेष हो गया हो) को बुलाकर उनसे क्षमा करवाते और अपने आप भी उनपर क्षमा प्रदान करें, उन्हें जिस तिसप्रकार संतोषित करें, फिर यदि शक्ति हो तो मुनिव्रत धारण करके समाधिमरणकी तैयारी करे और यदि यकायक ऐसा न कर सके तो घरमें रहकर ही क्रमश: प्रतिमा रूपसे संयम और तपका अभ्यास करे और धीरे धीरे आहार विहार आदि कम करता जावें, स्वाद रहित सादा शुद्ध प्रासुक भोजन करे कभी कभी उपवास (चारों प्रकारके आहारोंका त्याग) करता जावे, कभी दूध, कभी पानी, कभी छांछ पर ही दिवस निकाल देवे और जब इस प्रकार होनेसे परिणामोंमें कषायभाव व संक्लेशता न हो, धैर्य न छूटे तब अधिक अधिक उपवासका अभ्यास बढ़ाता जावे, इसी प्रकार शीत उष्णादि परीषहोंके सहनेका भी अभ्यास करे। पलंग व कोमल गद्दियोंका सोना त्यागकर घासकी चटाई, व भूमि आदिपर सोनेका अभ्यास डाले और ज्यों २ अभ्यास होता जाय त्यों त्यों बाह्य परिग्रहोंका त्याग करता जावे।

संसारकी विचित्र अवस्था है, इसमें अनेक पुरुष गुणको भी अवगुण रूपसे ग्रहण करके अथवा निष्कारण ही शत्रु बन बैठते हैं, ये अनेक प्रकारके दुर्वचन कहते हैं, मारते भी हैं,

ऐसी अवस्था उपस्थित होने पर समताभावको धारण करे, और जब सब प्रकार मन व इन्द्रियें वश हो जांय, विषयाभिलाषा घट जाय, कषायोंकी अतिशय मंदता हो जाय तो सर्वथा परिग्रह और गृहवास त्यागकर मुनि मुद्रा धरके साधु-समाधि धारण करे, परन्तु यदि बीचमें ही मरणका अवसर प्राप्त हो जाय तो सब ओरसे चित्तको खींचकर अपने आत्मा की ओर लगाले और यदि यह भी न हो सके तो धर्मध्यानमें व दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपादि आराधनामें लगावें, और समस्त प्रकारके शुभाशुभ आहारविहार करनेरूप अभिलाषाका भी परित्याग कर दे और कर्मयोगसे आये हुए उपसर्ग व परिषहोंसे विचलित न होवे।

उस समय ऐसा विचार करे कि ये उपसर्ग व परीषह तो पूर्वकर्मकृत उपाधियां हैं, इनका प्रभाव तो केवल पुद्गल पर हो सकता है, जीवका स्वरूप तो उपाधि रहित अव्याबाध है, इत्यादि अथवा यों विचारें कि मुझसे पहिलें भी ऐसे ऐसे व इससे अधिक उपसर्गादि बड़े बड़े पुरुषोंको आ चुके हैं, जैसे देशभूषण कुलभूषणस्वामीको कुंथुगिरीपर, पांडवोंको शेत्रुंजय गिरिपर अकंपनाचार्यादि सातसौ मुनियोंको बलि मंत्री द्वारा, सातसौ मुनियोंको दंडकवनमें घाणीमें पेल दिया गया, इत्यादि और भी अनेकों महात्माओंको अनेकों उपसर्ग सुरनर पशु चेतन प्राणियों द्वारा व अचानक अचेतन वस्तुओं द्वारा उपस्थित हुए हैं, परन्तु उनसे वे किंचित् भी नहीं विचलित हुए तो मेरे कितना कष्ट है, इत्यादि चिंतवन करके अपने चित्तको स्थिर रखें (पंडित सूरचन्द्रजीका समाधिमरण अर्थात् मृत्यु-महोत्सव पाठका अर्थ विचारें) अथवा यह सोचें कि घबराने व रोनेसे कुछ दुःख दूर नहीं होगा, किन्तु उल्टा कर्म-बन्ध

होगा, इसलिये समताभाव ही धारण करना उचित है। कर्म उपार्जन तो मैंने ही किये हैं, तब कर्मफल भी मुझे ही भोगना पड़ेगा। और जब शुभ कर्म भी स्थिर नहीं रहता है, तो अशुभ कर्म, किस प्रकार स्थिर रह सकेगा? इसलिये इस विनाशीक कर्मके उदयजनित फलमें कायर होना भूलभरा हुआ है, व्यर्थ है। इत्यादि चितवनकर और, मित्र, महल, स्मशान, कांच, कंचन, सुख दुःखादिमें समभाव धारण कर चारों आराधनाओंको धारणकर मरण करे सो समाधिमरण या साधु समाधि है। इस प्रकार साधुसमाधि भावनाका वर्णन किया।

ऐसा कहा भी है—

साधु समाधि नर करो भावुक, पुण्य बढ़ो उपजै अघ भाजै।
साधुकी संगति धर्मके कारण, भक्ति करे परमारथ छाजै॥
साधु समाधि करे भव छूटत, कीर्ति घटा त्रयलोकमें गाजै।
ज्ञान कहे जग साधु बड़े, गिरिशृंग गुफा बिच जाय बिराजै॥

इति साधुसमाधिभावना।

(९) वैयावृत्यकरण भावना।

वैयावृत्य—अर्थात् सेवा करना। सेवा करनेका मुख्योद्देश यह है कि जिससे कोई भी प्राणी रोगादिक अस्वस्थताके कारण कायर होकर आत्मघात न करले, तीव्र कषायोंके द्वारा कुमरण

कर दुर्गतिमें न जा पड़े , कोई सहाई न देखकर अपने श्रद्धान (दर्शन) और चारित्रसे विचलित न हो जाय, अथवा इन असहाय, रोगी, अस्वस्थ जनोंको देखकर अन्यान्य धर्मात्मा पुरुष धर्ममें शिथिल न हो जाय, इत्यादि ।

यह सेवा (वैयावृत्य) दो प्रकारसे होती है—(१) भक्तिसे (२) करुणासे ।

भक्तिसेवा—अर्थात् भक्त (सेवक) से जो दर्शन (श्रद्धा) ज्ञान, चारित्र, तप आदि गुणोंमें अधिक हो उसकी सेवा करना । अर्थात् भक्त जिन महात्माओंके गुणोंमें आशक्त हो, अथवा जिनके गुण अनुकरणीय हों, और भक्त उनके द्वारा सद्गुणोंकी प्राप्ति अपने आपमें व अन्यजनोंमें करना चाहता है इत्यादि इसलिये उनकी सेवा टहल करता है. कि जिससे उन महात्माओंका शरीर स्वस्थ रहे और उनके द्वारा धर्म व ज्ञानकी प्रवृत्ति होती रहे, जिससे वे स्वयम् धर्ममार्गमें दृढ़ रहकर अन्य प्राणियोंको भी दृढ़ रख सकें, ताकि सेव्य और सेवक दोनोंका कल्याण हो, दोनों सच्चे सुखको प्राप्त हों इसलिये उनकी सेवा टहल करता है क्योंकि कहा है— " न धर्मो धार्मिकैर्विना " अर्थात् धर्मात्माके बिना धर्मकी प्रवृत्ति नहीं रह सकती है । इसे भक्ति सेवा कहते हैं । इससे अनुकरणीय गुणोंकी मुख्यता देखी जाती है, जैसे मुनि आदि चतुर्विध संघकी तथा अन्य साधर्मीजनोंकी सेवा सुश्रूषा करना, इत्यादि ।

करुणा-सेवा—इसमें गुणदोषोंकी ओर दृष्टिपात न करके केवल दया ही की प्रधानता रहती है । यह सेवा संसारके नर पशु आदि समस्त दुःखित, दीन, असहाय, निर्बल, रोगी और अनाथ प्राणियोंकी निःस्वार्थ वृत्तिसे की जाती है ।

विनय और वैयावृत्यमें केवल अन्तर यही है कि विनय तो केवल वयोवृद्ध, गुणवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, चारित्रवृद्ध और तपादि गुणवृद्ध सम्यग्दर्शनके धारी पुरुषोंकी उनके गुणोंका अनुकरण करने व उनके गुणोंकी प्राप्तिके अर्थ की जाती है, और वैयावृत्य केवल अस्वस्थ (रोगावस्था) अवस्थमें प्राणीमात्रकी उनको रोगमुक्त करनेके लिये की जाती है।

वैयावृत्य करनेवाले पुरुषको निर्विचिकित्सा अङ्ग अवश्य ही धारण करना पड़ता है। क्योंकि बात पित्त और कफादिके प्रकोपसे प्राणियोंके शरीरमें अनेक प्रकारकी घृणित व्याधियां जैसे—ज्वर, दमा, कफ, खांसी, श्वास, सन्निपात, फोड़ा, फुन्सी आदि उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके कारण पसीना (पसेव=स्वेद), लार, पीब, लोहू, मल, मूत्र, कफ आदि दुर्गंधित पदार्थ शरीरसे निकलने (बहने) लगते हैं। मक्खी, चिऊंटी, चींटा, मांकोड़ा, मच्छर आदि जीव उसे घेर लेते हैं, उसके श्वासोश्वासमें भी दुर्गंध निकलने लगती है।

ऐसी निर्बल अवस्थामें प्राणियोंका धैर्य छूट जाता है, वे अनेक प्रकारके अनर्थ, रोगसे कायर होकर कर बैठते हैं। इसलिये उनकी ऐसी दीन हीन अवस्थामें ग्लानि रहित भक्त व दयाभाव पुरुष ही उनकी सेवा शुश्रूषा (वैयावृत्य) कर सकता है। यह महान पुण्योत्पादक कार्य नाक मुंह सिकोड़नेवाले डरपोक कायरोंके भाग्यमें ही प्राप्त नहीं हो सकता है। भला, जिस अवस्थामें साथी पुत्र, कलत्र, बांधव, मित्र, पड़ौसी, सेवक, सम्बन्धी आदि ही छोड़कर चले जाते हैं यहांतक कि रोगी स्वयं हीं अपने शरीरसे उदार होकर ग्लानियुक्त हो जाता है तब क्या कह सकते हैं कि अन्य कायर ग्लानियुक्त मनुष्योंसे यह पुण्यकार्य संपादन हो सकेगा? कभी नहीं,

कभी नहीं ।

डॉक्टर, वैद्य, हकीम, जर्राह तथा दाई (Midwife or nurse) आदिको तो सर्वथा ग्लानिरहित ही होना चाहिये, क्योंकि उनके पास तो सब जातिके ऊंच नीच और सब प्रकारके रोगी मनुष्य आते हैं और उनका कर्तव्य भी है कि वे सबको प्रेमसे भक्तिसे, दयासे, सुललित शब्दोंसे सम्बोधन करते हुए उनकी चिकित्सा करें, सेवा करें न कि लोभवश निम्न कहावतको चरितार्थ करें—

वैद्यराज नमस्तुभ्यम्, यमराज सहोदरा ।
यमस्तु हरतु प्राणान्, वैद्य प्राणधनानि च ॥

अर्थात्—हे वैद्यराज ! तुमको दूरसे ही नमस्कार है, (हम तुम्हारी चिकित्सा नहीं कराना चाहते हैं) क्योंकि तुम यमराजके भाई हो । नहीं, उससे भी अधिक हो, कारण यमराज तो केवल प्राणोंका हरण करता है, परन्तु तुम (लोभी वैद्य) प्राण और धन दोनोंको हरण करते हो । यथार्थमें वैद्यविद्या केवल परोपकारार्थ ही है न कि धन इकट्ठा करनेके लिये है, जैसा कि प्रायः आजकलके अनेक वैद्य डॉक्टर कर रहे हैं ।

वैयावृत्य करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है, वैद्यपर ही यह निर्भर नहीं है । हां, इतना अवश्य है कि वैद्य जनसाधारणको अपेक्षा इस कार्यको चतुराई और विशेषता पूर्ण कर सकते हैं, परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि और कोई बिलकुल कर ही नहीं सकता है । नहीं, प्रत्येक नरनारी अपनी शक्ति और बुद्धिके अनुसार अवश्य ही थोड़ी बहुत प्राणिसंघकी वैयावृत्य कर सकता है ।

ध्यान रहे कि वैयावृत्य अस्वस्थ रोगी प्राणियोंकी ही की

जाती है न कि स्वस्थ हृष्टपुष्ट संडेमुस्तंडे लोगोंकी; क्योंकि चिकित्सा तो रोगकी होती है। और जबकि कोई रोग ही नहीं है, तो चिकित्सा काहेकी की जाय ? जो लोग स्वस्थ अवस्थामें भी किसी भेष विशेषको धारण करके स्त्री पुरुषोंसे अपनी सेवा टहल कराते हैं, हाथ पैर मलवाते हैं, शरीरमर्दन व लेपादि कराते हैं, पौष्टिक औषधादि एवं मोदक [illegible] रसास्वाद करते हुए भोजन करते हैं वे यथार्थमें ठग, धूर्त, व्यभिचारी, चोर विषयलम्पटी, कायर और नीच हैं। ऐसे लोगोंसे दूर रहकर ही अपने धर्मकी रक्षा करना उचित है, और अपने साथियों व जन साधारणको ऐसे भयंकर जीवोंसे बचानेके लिये सचेत कर देना उचित है।

उत्तम पुरुष—तो जहांतक संभव है और उनके शरीरमें शक्ति रहती है व उनके परिणाम स्थिर रहते हैं, वहांतक वे कभी किसी से सेवा कराते ही नहीं हैं, वे शरीरसे बिल्कुल निस्पृह रहते हैं यहांतक कि वे अपने आप भी अपनी वैयावृत्य शक्ति रहते हुवे भी नहीं करते हैं, और अपनी संपूर्ण शक्ति आत्माकी ओर लगाकर एकांत स्थान (गिरि, वन, गुफा) में एकासनसे समाधिष्ट हो जाते हैं। वे आत्मध्यानको ही संपूर्ण रोगोंकी परिहार करनेवाली औषधि समझते हैं।

मध्यम पुरुष—अपनी चिकित्सा (वैयावृत्य) यथासंभव आप ही कर लेते हैं वे दूसरोंको उनके आवश्यक कार्योंसे छुड़ाकर अपनी सेवा नहीं कराते हैं।

जघन्य—अपने आप शक्ति न रहते हुवे अपने परिणामोंको स्थिर रखनेके हेतु रोगका परिहार करनेकी इच्छासे किसी साधर्मी सज्जन सदाचारी पुरुष द्वारा उसकी सेवा करनेकी इच्छा देखकर वैयावृत्य कराना स्वीकार कर लेते हैं।

उत्तम और मध्यम पुरुषोंमें तो केवल साधु महात्मा ही गिने जाते हैं जो उस उच्चावस्थाको पहुंच चुके हैं, और जिनके परिणाम घोरतम उपसर्ग तथा परीषहादि आनेपर भी अचल मेरुवत् चलायमान नहीं होते हैं, और जघन्यमें साधु आदि गृहस्थ भी होते हैं ।

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनकी वैयावृत्य करना सो तो भक्तिकी अपेक्षासे होती है । और इनसे इतर प्राणीमात्रकी वैयावृत्य करना है सो करुणा (दया) अपेक्षा है ।

वैयावृत्यमें ये दो (भक्ति और करुणा) ही कारण प्रधान हो सकते हैं । जब कि मुनि (साधु) भी अपने संघकी वैयावृत्य करते हैं, तब गृहस्थोंका तो यह मुख्य कर्तव्य होना ही चाहिये । देखो, भगवती आराधनासार ग्रन्थमें एक साधुकी वैयावृत्य करनेके लिये अडतालीस (४८) साधु (उत्कृष्ट रीतिसे) और (जघन्य रीतिसे) कमसेकम दो साधु अवश्य ही रहते हैं, जिससे क्षपक (अस्वस्थ साधु) के परिणामोंमें कुछ विकल्प न होने पावे, और वैयावृत्य करनेवालोंके भी अपनी नित्यावश्यक क्रियाओंमें कुछ बाधा न पहुंचने पावे ।

तात्पर्य—साधु भी वैयावृत्य करना अपना एक धर्म समझते हैं, क्योंकि वैयावृत्य अन्तरंगमेंसे एक तप है । और तप निर्जराका कारण है तब गृहस्थको तो समझना ही चाहिये ।

साधुकी वैयावृत्य—तो केवल उनके योग्य वस्तिकाका प्रबंध कर देना, भोजनके साथ उसी समय उनकी प्रवृत्ति द्रव्य, क्षेत्र और कालानुसार योग्य प्रासुक औषधि देना, हस्त पादादि चांपना, पुस्तक, पीछी, कमण्डलु सांथरा (बिछानेको घांस) आदिका प्रबंध कर देना, और नम्र विनययुक्त मधुर वचनोंसे स्तुतिरूप संबोधन करना इत्यादि है ।

गृहस्थोंकी वैयावृत्य— उनके योग्य औषधिका उपचार करना, उठाना बैठाना, सुलाना, मलमूत्रादि साफ करना वस्त्र बदलना, पथ्य भोजन कराना, धर्मोपदेश देकर धैर्य बंधाना, उसके कुटुम्बी व आश्रितजनोंको शांति देना, यदि निर्धन हैं तो उसको उसके आश्रितजनोंके भोजन वस्त्रादिका उचित प्रबंध कर देना इत्यादि, यही सेवा है।

वैयावृत्य करनेवाला किसीपर उपकार नहीं करता है, किन्तु यह उसका कर्तव्य ही है। उसे अपनी सेवाका अभिमान न होना चाहिये, व लोगोंको बार बार जताना चाहिये कि "यदि मैं न सेवा करता तो भिनक जाता" इत्यादि, और न उसको उसके प्रतिफलकी इच्छा रखनी चाहिये। प्रतिफल तो मिलता ही है तब व्यर्थ क्यों ऐसी कुवासनाओंसे अपनी आत्माको कलुषित किया जाय? सेवा करनेवाला यथार्थ परका नहीं किन्तु अपना निजका ही उपकार करता है क्योंकि रोगीकी सेवा तो यदि उसका शुभ उदय हो और असाताका क्षयोपशम हो तो अवश्य ही कोई न कोई उसकी सेवा करनेको मिल ही जाता हैं, परन्तु अभिमानी सेवकके हाथसे वह सेवा करनेको शुभ अवसर चला जाता है जिसके कारण वह महत्पुण्य कार्यसे वंचित रह जाता है।

यदि व्यवहारदृष्टिसे भी देखा जाय तो भी संसारमें बिना परस्परकी सहायताके कार्य नहीं चल सकता है। एक आदमी दूसरेका कोई उपकार करता है तो दूसरा भी पहिलेको उसका बदला किसी व किसी रूपमें चुका ही देता है। मालिक यदि नौकरका और उसके कुटुम्बका पोषणके निमित्त द्रव्यसे उपकार करता है तो नौकर भी सेवा चाकरीसे मालिकका उपकार करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि संसारमें सब जीवोंका

निर्वाह बिना परस्परके उपकार, सहायता, सेवा, सुश्रुषा, मेल मिलाप आदिके नहीं हो सकता है, इसलिये वैयावृत्य करना परमावश्यक है ।

निश्चयसे वैयावृत्य द्वारा स्थितिकरण अंगका पोषण होता है । वैयावृत्यमें अतिथिसंविभाग व्रतको भी कहीं कहीं गर्भित किया जाता है । कारण क्षुधा भी एक प्रकारका रोग है जो भोजनरूपी औषधिसे मिटता है, और क्षुधाकी वेदना बढ़नेसे अनेकानेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं तथा परिणाम भी विचलित हो जाते हैं इसलिये अतिथिसंविभागव्रत भी वैयावृत्यमें गर्भित हो सकता है । इस प्रकार वैयावृत्यकरण भावनाका स्वरूप कहा । कहा भी है—

कर्म संयोग विथा उदये मुनि, पुंगवको शुद्ध भेषज दीजे ।
पित्तक फानल श्वास भगंदर, ताप कुशूल महा छीजे ॥
भोजन साथ बनायके औषधि, पथ्य कुपथ्य विचारके दीजे ।
ज्ञान कहे नित ऐसे वैयावृत्य, जोहि करे है देव पतीजे ॥९॥

इति वैयावृत्य भावना ।

(१०) अर्हद्भक्ति भावना।

अर्हद्भक्ति—अर्थात् अर्हंत (जिन या आप्त) भगवानकी उपासना करना। अर्हन्त, जिन और आप्त ये तीनों एकार्थवाची हैं। अर्हन्त उसे कहते हैं, जो भव्यजीव अपने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके बलसे चारों घातिकर्म—ज्ञानावरणीय-अनंतज्ञानको ढकनेवाला, दर्शनावरणीय = संपूर्णपने देखनेकी शक्तिको ढकनेवाला, अन्तराय=अंतिवर्ध्य रोकनेवाला अर्थात् विघ्न करनेवाला और मोहनी=सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र (जिसके कारण आत्माको अनंत सुख होता है) को रोकनेवालेको नष्ट करके सयोगकेवली नामके तेरहवें गुणस्थानको प्राप्त हुआ है।

यह जीव अनादि कालसे कर्मका प्रेरा चतुर्गतिकी चौरासी लक्ष योनियोंमें परिभ्रमण करता है। सो अनन्तकाल तक भ्रमण करते करते काललब्धिके प्रभावसे जब कभी जीव क्षयोपशम (सदसद् विवेकरूप बुद्धि (ज्ञान) का पाना, विशुद्ध (अपने कल्याणकारी उपदेशको ग्रहण करनेयोग्य कषायकी मन्दतारूप भाव), देशना (मोक्षमार्गके उपदेशका लाभ) प्रयोगलब्धि (आयु कर्मके सिवाय अन्य कर्मोंकी स्थिति अन्तः कोटाकोटि सागर प्रमाण रह जाना) और करणलब्धि (सम्यग्दर्शनके सन्मुख भव्य जीवके समय समय अत्यन्त विशुद्धता लिये हुए, और समय समय प्रति पापकर्मोंकी स्थिति व अनुभागको घटाते हुए, तथा पुण्य कर्मोंकी स्थिति और अनुभागको बढ़ाते हुए षट् गुणी हानि-वृद्धिको लिये गुणश्रेणी गुणसंक्रमणादि करता हुआ अनन्तानुबन्धी चौकड़ी तथा मिथ्यात्वके द्रव्यको अन्य प्रकृतियों-

रूप परिणमता है और इस प्रकार अधःकरण अपूर्वकरण करके अनिवृत्तिकरणके अन्त समयमें इन ५ प्रकृतियोंको पूर्णतया उपशमाकर अनन्तर समयमें सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है। सो इस प्रकार यह जीव कितने ही बार तो करणलब्धिके अतिरिक्त चार लब्धियें पा करके भी कृतकार्य नहीं होता है। और जब इसका भवस्थिति केवल अर्द्ध पुग्दलपरावर्तन काल-मात्र शेष रह जाती है तब यह उपशम सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है।

सो यह सम्यग्दर्शन अन्तर्मुहूर्त कालमात्र रहकर छूटे और तब फिर पहिलेके समान मिथ्यात्वी हो जाता है परन्तु इतना विशेष है कि मिथ्यात्वका द्रव्य तीन भागरूप हो जाता है— मिथ्यात्व, मिश्र मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व। इस प्रकार कईवार यह जीव उपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करकर छोड़ता है तब कभी क्षयोपशम सम्यक्त्वको पाता है, और पश्चात् जब केवल ३—४ भव मात्र संसारकी स्थिति रह जाती है तब क्षायक सम्यक्त्व प्राप्त करता है, सो यह सम्यक्त्व फिर नहीं छूटता है किंतु यह जीवको संसारसे छुड़ाकर परमपदको प्राप्त करा देता है। सो ऐसे सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर यह जीव अपने सच्चिदानंद स्वरूपका चितवन करता है उस समय यह अपने आत्माको पुद्गलादि जड पदार्थोंसे भिन्न अखण्ड, अविनाशी, चैतन्य, सर्व कर्मोपाधिसे रहित, ज्ञानानन्द स्वरूप, अनन्त शक्तिवाला अनुभव करता है। तब उसके परम अल्हादरूप भाव होते है। और उस समय यह त्रैलोक्यके इन्द्रियजनित सुखोंको अपने सच्चिदानंद स्वरूपके अविनाशी सुखोंके साम्हने तृणवत्, विनाशीक और कर्मजनित पराधीन उपाधि मात्र समझता है। इस

प्रकारकी स्वपर भेद विज्ञानरूप अवस्थाको सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्वकी अवस्था कहते हैं ।

यहां वह जीव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कहाता है, उस समय उसके मोहकर्मकी सात प्रकृतियों (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौकड़ी चारित्रमोहकी, और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ये तीन दर्शन-मोहकी) का क्षय तो कर ही चुका है ।

पश्चात् अप्रत्याख्यानावरणी और प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारित्रमोहकी दोनों चौकड़ियोंके उपशम होनेसे उपशम या क्षयोपशम चारित्रको प्राप्त कर अनिवृत्ति बादरसाम्पराय नाम नवमें गुणस्थानमें निद्रानिद्रा[1], प्रचलाप्रचला[2], स्त्यानगृद्धि[3] ये तीन दर्शनावरणीय कर्मकी और नर्कगति[4], पशुगति[5], नर्कगत्यानुपूर्वी[6], तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी[7], एकेन्द्री[8], द्वेन्द्री[9], त्रेन्द्री[10], चौइन्द्री[11], आतप[12], उद्योत[13], स्थावर[14], सूक्ष्म[15] और साधारण[16], ये तेरह नामकर्मकी इस प्रकार सोलह प्रकृतियोंका क्षय करके तिसहीके पीछे उसी गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानाव-णीय और प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकड़ियां अर्थात् आठों चारित्रमोहकी प्रकृतियोंको क्षयकर क्रमसे नपुंसकवेद, स्त्रीवेद हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, संज्वलन, क्रोध, मान. माया ये तीन. इस प्रकार बीस चारित्र मोहकी और तेरह नामकर्मकी और तीन दर्शनावरणीयकी, कुल छत्तीस प्रकृतियोंको क्षय करके क्षपक-श्रेणीमें ही आरूढ़ होता हुआ दशवें सूक्ष्मसांपराय नाम गुण-स्थानमें सूक्ष्म लोभ (चारित्र मोहकी संज्वलन चौकड़ीमेंसे जो

एक प्रकृति शेष थी उसे) क्षय करता है। पश्चात् दशमेंसे एकदम बारहवें क्षीणकषाय नाम गुणस्थानमें पदार्पण (ग्यारहवें उपशांतकषाय गुणस्थानमें उपशम श्रेणी चढ़नेवाला ही जाकर पीछे पड़ जाता है, क्षपकवाला नहीं जाता है) उपांत्य समयमें (अन्तके समयसे पहिले समयमें) निद्रा और प्रचला इन दो दर्शनावरणीय प्रकृतियोंका क्षय करके अन्तके समयमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पांचों ज्ञानोंको ढकने-वाली पांच ज्ञानावरणीय. चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इन चार दर्शनको रोकनेवाली दर्शनावरणीय, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (बल) इन पांच लब्धियोंको रोकनेवाली अन्तरायकी, इस प्रकार चौदह प्रकृतियोंको क्षय करके सयोगकेवली नाम तेरहवें गुणस्थानोंमें प्रवेश करता है, यहांतक कुल त्रेसठ प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है। ऊपर बताई हुई ज्ञानावरणीय पांच, दर्शनावरणीय नव, अन्तरायकी पांच, मोहनीयकी अट्ठावीस, नामकर्मकी तेरह, इस प्रकार साठ और देवायु, नरकायु और तिर्यंचायु ये तीन आयुकी कुल त्रेसठ (६३) हुई।

जब जीव इस प्रकार उक्त ६३ प्रकृतियोंका क्षय कर लेता है तब उसे अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन अनंत सुख और अनंत वीर्य (बल) प्राप्त होता है—आत्माकी स्वाभाविक दिव्य शक्ति प्रगट होती है। क्षुधा[१], तृषा[२], राग[३], द्वेष[४], जन्म[५], जरा[६], मरण[७], रोग[८], शोक[९], भय[१०], विस्मय[११], अरति[१२], स्वेद[१३], खेद[१४], मद[१५], मोह[१६], रति[१७], निद्रा[१८] ये अठारह प्रकारके दोष बिलकुल उसमें नहीं रहते हैं, उसपर उपसर्ग व परीषहोंका जोर नहीं चलता है, तब वह जीव सकल परमात्मपदको प्राप्त हो जाता है, उसके नवीन कर्मोंका

बंध नहीं होता, केवल योगोंके सद्भावसे ईर्यापथ आस्रव होता है सो उपचारसे एक समयकी स्थिति लिये बंध कहा जाता है, और पूर्व बंधे शेष अघाति कर्मोंकी ८५ प्रकृतियोंकी कर्म-वर्गणाओंकी निर्जरा समय समय प्रति असंख्यातगुणी होती जाती है।

तब इंद्रादिक देव अपने अवधिज्ञानके बलसे प्रभुको केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ जानकर समवसरण या गंधकुटीकी रचना करते हैं, जिसके मध्य वह विशुद्धात्मा, वीतराग, सर्वज्ञ प्रभु अपने दिव्य केवलज्ञानके द्वारा देखे और जाने हुए संसारके तत्वोंका स्वरूप यथावत् सुर, नर,तिर्यंचादिक जीवोंको अपनी अमृतमयी दिव्यध्वनिके द्वारा सकल जीवोंके कल्याणार्थ उपदेश करता है, सुनाता है। ऐसे उत्कृष्ट केवलज्ञानसंयुक्त विशु-द्धात्माको सकल परमात्मा, जिन, अर्हन्त या आप्त कहते हैं। इसे ही जीवन्मुक्त भी कहते हैं, क्योंकि अब इसको मुक्ति दूर नहीं है। क्योंकि आयुके अंत होते ही शेष ८५ प्रकृतियोंको क्षय करके शरीर त्याग कर लोकशिखर पर तनवातवलयके अंतमें सदाके लिये स्वस्वरूपमें निमग्न होकर अविनाशी, अखंड, सच्चिदानंद स्वरूपको प्राप्त करेगा तब उसे निकल (शरीर रहित) परमात्मा या सिद्ध या मुक्तजीव कहते हैं।

यह पद प्रत्येक भव्य जीव प्राप्त कर सकता है, परन्तु प्रत्येक कालचक्रमें चौबीस विशेष जीव होते हैं, जिन्हें अवतार या तीर्थंकर (धर्मतीर्थके प्रवर्तक) कहते हैं, ये विशेष पुण्यात्मा होते हैं, और इनके गर्भमें आते ही वह नगरी जिसमें ये उत्पन्न होनेवाले हों, इन्द्रादिक देवोंके द्वारा सजाई जाती है। वह माता जिसके ये गर्भमें आनेवाले हों, देवियों कर सेवित होती है। नगरीमें नित्य प्रतिदिनमें ३ बार १५ मासतक इन्द्रादिक

एकबारमें साढेतीन कोटी रत्नवृष्टि करते हैं।

जब प्रभुका जन्म होता है, तब इन्द्रादिक देवोंका आसन कंपायमान हो जाता है, तीनों लोकके जीवोंमें हर्ष क्षोभ और कुछ समयके लिए शांति उत्पन्न हो जाती है, तब वे इन्द्रादिक देव उस महाप्रभुका अवतार हुआ जानकर उत्सव करते हैं, प्रभुको मेरुगिरिपर ले जाकर अभिषेक करते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, वादित्र बजाते हैं जय जयकार करते हैं।

पश्चात् जब प्रभुको संसारसे वैराग्य होता है, तब देवऋषि आकर स्तुति करते हैं, फिर इन्द्रादिक देव प्रभुका अभिषेक करके निकटके किसी वनमें प्रभुको ले जाते हैं। वहांपर प्रभु संसारके स्वरूपका चितवन करके (अनुप्रेक्षाओंका चितवन करके) अपने शरीर परसे जड़ वस्त्राभूषणोंको उतार देते हैं। और सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करके ध्यानमें निमग्न हो जाते हैं, उसी समय प्रभुको मनःपर्यय ज्ञान होता है और इन्द्रादिक देव स्वस्थानको चले जाते हैं। पश्चात् तप और ध्यानके प्रभावसे घातिकर्मोंको क्षयकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, और फिर इन्द्रादिक देवोंकी निर्मापित सभा (समवसरण*) में स्थित होकर चतुर्गतिके जीवोंको दुःखसे छुड़ानेवाले सच्चे धर्म (मोक्षमार्ग) का उपदेश करते हैं और आयुका निःशेष होते ही सिद्धपद प्राप्त करते हैं।

यद्यपि ये अवतारिक पुरुष अर्थात् तीर्थंकर कहाते हैं,

---

* तीर्थंकरके गर्भादि पंचकल्याणक और समवसरणका वर्णन ग्रन्थान्तरोंमें जैसे—रत्नकरण्ड या धर्मसंग्रहश्रावकाचार, आदिनाथ पुराण, समवसरण विधान आदिमें विस्तार सहित लिखा गया है वहांसे देखो।

परन्तु इससे यह न मान लेना चाहिए कि इनके सिवाय और कोई उस परमपदको नहीं पा सकता है, किन्तु जो उस मार्गका अवलम्बन करता है, वही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार अर्हन्तदेवका संक्षिप्त रीतिसे वर्णन किया। ऐसे देवकी भक्ति (उपासना), पूजादि स्तवन, गुण कीर्तन, भजन, चिंतवन करनेसे अपने आत्मामें भी दिव्यशक्ति उत्पन्न होती है, अपने पुरुषार्थका ध्यान होता है और अपने आपको भी उस अविनाशी अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप परमपदके प्राप्त करनेकी इच्छा होती है।

संसारके विनाशिक विषयजनित सुखोंसे घृणा और भय उत्पन्न होता है, दुर्वासनायें मनमें स्थान नहीं बनाने पाती हैं, चित्त प्रफुल्लित रहता है; कायरता, भय, मोह, शोक, मदादि दोष पलायन कर जाते हैं, उपसर्ग और परीषहोंसे चित्त विचलित नहीं होता है, साहस, बल, दृढ़ता, गम्भीरता बढ़ती है, बुद्धि निर्मल होती है, ज्ञानानुभव बढ़ता है, दया, क्षमा, शील, सन्तोष, विनय, निष्कपटता, प्रेम, उल्लास, श्रद्धा, निराकुलता इत्यादि अनेकानेक गुण दिनोंदिन बढ़ते हैं।

इसलिये अर्हद्भक्ति नाम भावनाका चिंतवन अवश्य करना चाहिये। यद्यपि इस समय साक्षात् अर्हन्त भगवान नहीं हैं, तो भी उनके गुण और पवित्र चरित्रके चिंतवन करनेके लिये स्मारक रूपसे तदाकार मूर्ति बनाकर मंत्रोंके द्वारा प्रतिष्ठित करके किसी उत्तम एकान्त स्थानमें रखकर उनके साम्हने अर्हन्तके गुणोंका स्तवन (चिंतवन) करके अर्घ उतारण करनेसे भी अर्हद्भक्ति नाम भावना हो सकती है। क्योंकि यह मूर्ति भी हमको विना बोले साक्षात् अर्हन्तका स्वरूप ही दर्शानेवाली है। इस वैराग्यमय मूर्तिको देखते ही वैराग्यभाव उदित हो

जाते हैं और उस (मूर्ति) के साम्हने पूजन भी अर्हंत ही की होती है । न कि जड़ मूर्तिका स्तवपूजनादि किया जाता है जैसा कि बहुतसे लोग मान बैठे हैं ।

मूर्ति तो जड़ है, कुछ जड़की पूजा थोड़े ही की जाती है। पूजा तो की जाती है उस जीवनमुक्त (शरीर=सकल परमात्मा) अर्हंत प्रभुकी, जो कि सच्चिदानंद चैतन्य स्वरूप है, और यह मूर्ति उसकी अंतिम अवस्थाको स्मरण करानेवाली है, इसलिये इसके सन्मुख पूजन, स्तवनादि जड़मूर्तिका नहीं किंतु चैतन्य प्रभु अर्हंत ही की पूजा, स्तवन समझना चाहिये । कारणसे कार्यकी सिद्धि होती है, इसलिये वीतरागमुद्रारूप मूर्तिके दर्शनसे ही वीतराग भावोंकी सिद्धि होती है । तात्पर्य—मूर्ति ध्यानादि अर्हंत गुण चिन्तवनके लिये निमित्त कारण है, और उपादान कारण तो अपने ही भाव हैं, इनका निमित्त नैमित्तिक संबंध है । इसलिये साक्षात् अर्हंत देवके अभावमें उनकी अंतिम ध्यानावस्थाकी परम दिगम्बर वीतराग, शांतिमुद्रायुक्त मनुष्याकार मूर्ति स्थापित करके ही अर्हंत पूजन, स्तवन करना चाहिये । इसीको अर्हद्भक्ति नाम भावना कहते हैं ।

सोही कहा है—

देव सदा अर्हंत भजो जिह, दोष अठारह किये अति दूरा ।
पाप पखाल भये अति निर्मल, कर्म कठोर किये सब चूरा ॥
दिव्य अनंत चतुष्टय शोभित, घोर मिथ्यांध निवारण शूरा ।
ज्ञान कहै जिनराज अराधो, निरंतर जे गुण मंदिर पूरा ॥१०॥

॥ अर्हद्भक्ति भावना ॥

(११) आचार्यभक्ति भावना।

आचार्यभक्ति भावना—अर्थात् दीक्षा शिक्षा देनेवाले गुरुकी उपासना करना।

आचार्य—गुरु (प्राणियोंको असत् मार्गसे छुड़ाकर सत् मार्गमें लगानेवाले, दीक्षा शिक्षा देनेवाले और लगे हुए दोषोंसे प्रायश्चितादि देकर विधियुक्त संस्करण करनेवाले संघाधिपति) को कहते हैं।

संघाधिपति—आचार्य दो प्रकारके होते हैं—एक तो गृहस्थाचार्य और दूसरे निर्ग्रन्थाचार्य। गृहस्थ संघपति भी दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे जो गृहस्थोंको विद्या और कलाकौशल्यकी शिक्षा देते हैं तथा गर्भादि संस्कार कराते हैं। इन्हें गृहस्थाचार्य कहते हैं।

ये लोग स्वतंत्र रीतिसे निरपेक्ष होकर विद्या पढ़ाते, कलाकौशल सिखाते, नीतिमार्ग (व्यवहार धर्म) का उपदेश करते, और गर्भाधानादि षोड़श संस्कार कराते, तथा प्रतिष्ठादि यज्ञ क्रिया करवाते हैं। और शिष्योंके द्वारा प्राप्त भेंट (द्रव्य) में संतोषवृत्ति धारणकर अपना और अपने कुटुम्बका पोषण करते हैं। कभी किसीसे कुछ भी याचना नहीं करते हैं। केवल अपने सदाचारके प्रभावसे ही लोगोंको आज्ञाकारी बनाते हैं।

दूसरे संघाधिपति गृहस्थ—राजा होता है, जो स्वयं सदाचारी होकर अपनी प्रजाको विद्या, बल, बुद्धि और पराक्रमसे वश करके असत मार्गसे रोककर सत् मार्गपर चलाता है

और परचक्र कृत प्रजापर आये हुये उपसर्गों (उपद्रवको अपने बलसे) को अपने बल व बुद्धिसे दूर कर प्रजाकी रक्षा करके धर्मकी तथा नीतिकी प्रवृत्ति करता है ।

राजा अपना प्रभाव सदाचारसे ही प्रजापर डालता है, परन्तु कभी आवश्यकता होने पर दण्डनीतिका भी अवलम्बन करता है क्योंकि बिना भयके आज्ञा प्रवृत्ति नहीं होती है, सो विद्वान तो परलोक भय या पापके भयसे असत् मार्ग छोड़ देते हैं, परन्तु जनसाधारण मूर्ख बिना इस लोकभय अर्थात् दण्डनीति (ताड़न करना) के असत् मार्गसे नहीं फिरते हैं । इसलिये राजाको यह करना ही पड़ता है । यदि राजा ऐसा न करे, अर्थात् दुष्टोंको दण्ड न देवे, तो सज्जन शिष्ट पुरुषोंका रहना ही कठिन हो जाय, संसारमें धर्म और नीति उठ जाय, लोग स्वच्छन्द होकर मनमाने कार्य किया करें, दीन हीन निर्बल प्राणियोंका जीवन निर्वाह भी होना दुष्कर हो जाय, " जिसकी लाठी उसकी भैंस " वाली कहावत चरितार्थ हो जाय, इत्यादि । इसलिये प्रत्येक संघमें संघाधिपति तो अवश्य ही चाहिये ।

जिस प्रकार गृहस्थोंमें संघाधिपति होते हैं, उसी प्रकार साधुओंमें भी संघाधिपति होना आवश्यक है, इसे कोई कोई आचार्य निर्ग्रन्थाचार्य, महंत, सूर, गुरु आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं । यद्यपि संघके सभी साधु निर्ग्रन्थ अट्ठावीस मूलगुणधारी* होते हैं, तो भी भावोंकी विचित्र गति है ।

---

*पंच महाव्रत[५], समितिपण[५], आवश्यक षट् जान । इन्द्रिय[५] दमन अरु भू शयन, सकृद्भुक्ति पान ॥ अल्प असन लें स्वाद बिन, करु न दांतन पान । केश उखाड़ें हाथसे, तजके अम्बर स्नान ॥ आठवीस गुण मूल ये, कहे साधुके सार । उत्तर लक्ष चौरासि हैं, देखो मूलाचार ॥ (दीप)

क्योंकि उपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी मांडकर ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़ करके पीछे पड़ जाते हैं और अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन कालतक पुनः संसारमें भटकते फिरते हैं। फिर संघमें बाल (तुरतके नवीन दीक्षित), युवा (कुछ समयके दीक्षित) और वृद्ध (बहुत समयके दीक्षित) सबल, निर्बल, स्वस्थ, अस्वस्थ रोगी थोडे पढ़े और विशेष पढे विद्वान, अनेक देशोंके,अनेक प्रकारकी प्रकृतिके धारी साधु होते हैं। उनसे आहार-विहार, समय प्रमादादि कितनेक कारणोंसे तपादि चारित्रमें दोष लग जाते हैं, गुप्ति भंग हो जाती है, कर्मके उदयसे अथवा अन्य कारणोंसे परस्परमें रागद्वेष आदि कषायें उत्पन्न हो जाती हैं संघका पक्ष पड़ जाता है, पठनपाठनमें शिथिलता हो जाती है, इत्यादि अनेक कारणोंसे धर्ममार्गमें रोड़ा अटक आनेका सन्देह रहता है।

ऐसी अवस्थामें यदि संघमें कोई एक सुयोग्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ज्ञाता, न्याय नीति और धर्मशास्त्रका पारंगामी, धीर-वीर शांत स्वभावी, दर्शन ज्ञान चारित्र, तप और वीर्य ये पंचाचारपरायण, बाह्याभ्यंतर बारह प्रकारके तप, दशलक्षण-रूप (उत्तम क्षमादि) धर्ममें लवलीन मन वचन और काय इन तीनों गुप्तियोंका यथावत पालनेवाला, शत्रु मित्रमें, महल श्मशानमें कांच और मणिमें जीवन और मरणमें समभावी, संघपर प्रेम (वात्सल्य) रखनेवाला, जिनाज्ञाका प्रवर्तक संसार-परिभ्रमणसे भयभीत, षडावश्यकमें सावधान दीक्षा शिक्षा प्रायश्चित्त आदिका देनेवाला समस्त संघकी सम्हाल रखनेवाला, वैयावृत्यमें निपुण इत्यादि उत्तम गुणोंसे भूषित संघाधिपति अर्थात आचार्य न हो तो मार्ग बिगड जाय, धर्मकी प्रवृत्ति उठ जाय, अनेक प्रकारके उन्मार्ग फैल जांय इत्यादि बहुत अनर्थ

उत्पन्न हो जांय इसलिये संघमें आचार्यका होना आवश्यक है।

ऐसे परम दिगम्बर संसार—समुद्रसे भव्य प्राणियोंको तारनेवाले जहाजके समान आप भी तरें औरोंको भी तारें, ऐसे श्री महामुनिराज आचार्य महाराजकी भक्ति, उपासना, स्तवन, कीर्तन (गुणानुवाद गाना) इत्यादि करना, पूजा करना, अर्घ उतारण करना, प्रत्यक्ष व परोक्ष वंदना नमस्कार करना, उनके द्वारा उपदेश किए हुए मार्गपर चलना, उनके निकट अपने किए हुए दोषोंको आलोचना करके प्रायश्चित लेना, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करना इत्यादि सो आचार्य भक्ति है।

गृहस्थाचार्य व राजादिक तो केवल इह लोक सम्बन्धी पथप्रदर्शक हैं परन्तु निर्ग्रन्थाचार्य उभयलोक सम्बन्धी पथ-प्रदर्शक हैं।

राजाको आज्ञा तो दण्ड नीतिके कारण येन केन प्रकारेण माननी ही पडती है, परन्तु आचार्य महाराज तो किसीपर बलात्कार आज्ञा नहीं करते हैं। निर्ग्रन्थाचार्योंका प्रभाव तो उनके सम्यक्चारित्रसे ही पड़ता है। कारण आचार्य महाराज केवल दूरसे कहकर ही पंथ नहीं दिखाते किन्तु आप स्वयम् ही उसपर चलकर औरोंको दिखाते हैं।

संसारमें "पर उपदेश कुशल बहुतेरे। ये आचरहिं ते नर न घनेरे॥" की उक्तिको चरितार्थ करनेवाले तो बहुत हैं। परन्तु दिगम्बराचार्योंकी उपमाको तो केवल वे स्वयं ही धारण कर सकते हैं, उनको किसीकी उपमा नहीं लगती, तात्पर्य—वे अनुपम हैं।

अतएव ऐसे आचार्योंकी पूजा भक्ति करना आवश्यक है। ऐसे आचार्योंकी पूजा, भक्ति, उपासना, स्तवन, वन्दन करनेसे

सदाचारको प्रवृत्ति होती है, धर्म और धर्मीजनोंमें प्रेम बढ़ता है, ज्ञानानुभव होता है, घने दिनोंकी शंकाओं और दुर्वासनाओंका नाश होता है, इत्यादि अनेक लाभ होते हैं। इसलिये अपना आदर्श ऐसे ही महामुनियों आचार्योंको बनाना चाहिये। जैसे गुरु वैसा ही चेला, "यथा राजा तथा प्रजा" होता है। कहा है—"गुरु कीजिये जान, पानी पीजे छान"।

यदि शंका करो कि इस कालमें तो ऐसे गुरु हैं ही नहीं तब क्या बिना गुरु निगुरे ही बने रहें? जैसा मिले वैसा ही गुरु बनाकर अमान्यकी प्रवृत्ति क्यों न करें? तो उत्तर यह है कि भूख भोजनसे ही मिटती है। कहीं भोजनके अभावमें ईंट पत्थर नहीं खाया जा सकता है। यदि ईंट पत्थर या विषादिक खाया जायगा, तो शीघ्र ही मरण हो जायगा। इसलिये यदि— सच्चा गुरु न मिले, तो पूर्वकालमें हो गये, जो श्री कुन्दकुन्दादि महामुनि तिनहीके आदर्श चरित्रोंका ध्यान करो, स्तवन वन्दन करो, उन्हें ही आदर्श बनाये रहो।

निगुरे तो जब कहावोगे जब कि गुरुको न मानोगे, परन्तु तुम्हारे जैसे परम तपस्वी निर्ग्रन्थ ज्ञानी, सत्पथदर्शी गुरु ना कदाचित् ही किसीको मिलेंगे, तब क्या ऐसे गुरुओंके स्थानमें स्वार्थान्ध, अज्ञानी, विषयी, कषायी पुरुषोंको पूजना चाहिये? नहीं नहीं, कभी नहीं पूजना चाहिये। हमारे गुरु वे ही कुन्दकुन्दस्वामी हैं, गौतम गणेश हैं सुधर्म स्वामी हैं इत्यादि। हमें उन्हींकी उपासना करना चाहिये। वर्तमान कालमें उनका अभाव होनेसे उनके उपदेशसे ही लाभ लेना चाहिये, उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंसे लाभ लेना चाहिये और परोक्ष विनयभक्ति करना चाहिये, उनकी छवि उतारकर साम्हने रखना चाहिये, यही

आचार्य भक्ति है, जो कल्याणकारी है। ऐसे आचार्यभक्ति नाम भावनाका स्वरूप कहा, सो ही कहा है—

देवत हैं उपदेश अनेक सु, आप सदा परमारथ धारी।
देश विदेश विहार करें, दश धर्म धरें भव पार उतारी ॥
दीक्षा शिक्षा देत दयाकर, मुनिवर गुण छत्तीसके धारी।
ज्ञान कहे भवसागर नाव, नमुं आचार्य त्रियोग सम्हारी ॥

॥ इति आचार्यभक्ति भावना ॥ ११ ॥

(१२) बहुश्रुतभक्ति भावना।

बहुश्रुतभक्ति भावना— अर्थात् उपाध्याय महाराजकी पूजा उपासना करना। उपाध्याय उन महामुनियोंको कहते हैं, जिनको सम्पूर्ण द्वादशांग वाणीका पूर्ण ज्ञान हो, इन्हें ही बहुश्रुत या श्रुतकेवली कहते हैं। ये स्वयम् आचार्य महाराजके पास बैठकर पढ़ते, तत्त्वचर्चा करते है और आचार्य महाराजकी आज्ञा प्रमाण अन्य शिष्यगणोंको पढ़ाते हैं, इसलिये इन्हें पाठक भी कहते हैं। यद्यपि आचार्यसे विद्यामें ये कुछ न्यून नहीं होते हैं, तो भी संघकी मर्यादानुसार संघके एक ही संघाधिपति होते हैं। आचार्यमें और उपाध्यायमें केवल इतना ही भेद है कि आचार्य तो संघका नायक समझा जाता है, और

संघमें उसकी आज्ञाकी प्रवृत्ति चलती है, वह दीक्षा शिक्षा व प्रायश्चित्तादि देनेका अधिकारी होता है, और उपाध्यायको ये अधिकार नहीं होते है ।

संघमें आचार्य तो एक ही होते हैं, परन्तु उपाध्याय तो बहुत भी रहते हैं। ये संघमें आचार्यके समान होते हुए भी मर्यादाका उलंघन न करके आचार्यकी आज्ञाप्रमाण ही चलते हैं। और जब अपनी सामर्थ्य और परिणामोंकी दृढ़ता देखते हैं, तो आचार्यकी आज्ञा लेकर अन्य संघमें भी जाते हैं, और एकलविहारी भी हो जाते हैं। मूलगुणोंमें तो सर्व संघके मुनिजनोंकी समानता ही होती है किन्तु कषायोंके असंख्यात स्थानोंके अनुसार उत्तम गुणोंमें अन्तर हो सकता है ।

ऐसे श्री परम दिगम्बर ज्ञानसागरके पारदर्शी श्री उपाध्याय महाराजकी भक्ति पूजा, नमस्कार, गुणानुवाद करनेसे शुद्ध आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है, भक्ति श्रद्धा, नम्रतादि गुणोंकी प्राप्ति होती है इसलिये सदा मन वचन और कायसे श्री उपाध्याय प्रभुकी भक्ति उपासना करना चाहिये । इस प्रकार बहुश्रुतभक्ति नाम भावनाका स्वरूप कहा ।

जैसा कि कहा है—

द्वादश अंग उपांग जिनागम, ताकि निरंतर भक्ति करावे।
वेद अनूपम चार कहे तम, अर्थ भले मनमांहि ठरावे॥
पढ़ो घर भाव लिखो सु लिखावो, करोश्रुत भक्ति सुपूज्य रचावे।
ज्ञान कहे इस भांति करे जिन, आगम भक्ति सपुण्य उपावे॥१२॥

इति बहुश्रुतभक्ति भावना ।

६

(१३) प्रवचनभक्ति भावना ।

प्रवचनभक्ति—अर्थात् जिनागम (जिनेन्द्र भगवानका कहा हुआ धर्म—जिनवाणी) का अध्ययन, अध्यापन, प्रचार, भक्ति उपासना, पूजा, स्तवनादि करना । जब कोई भव्य जीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रके बलसे ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंको नाश करके केवलज्ञानको प्राप्त होता है । और अपने अनंतज्ञान तथा दर्शनसे जाने और देखे हुए पदार्थोंका यथावत स्वरूप अपनी निरक्षरीवाणी (दिव्यध्वनि) द्वारा संसारी प्राणियोंके कल्याणार्थ कहता अर्थात् उपदेश करता है, उनकी वह अनक्षरी वाणी मेघगर्जनाके समान दिनमें तीन बार और मध्यरात्रिको एकवार ऐसे चारवार छः छः घड़ी तक खिरती है । इसी वाणीको लेकर गणधर (गणेश या गणपति) आदि चार ज्ञानके धारी मुनीन्द्र (१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) ज्ञातृकथांग, (७) उपासकाध्ययनांग, (८) अंतकृद्दशांग, (९) अनुत्तरोपपादशांग, (१०) प्रश्नव्याकरणांग, (११) सूत्रविपाक, (१२) दृष्टिप्रवादांग (इसी बारहवें अंगके १४ पूर्वरूप भेद होते हैं) इस प्रकार भेदाभेदपूर्वक द्वादशांगरूप कथन करते हैं ।

फिर परम्पराचार्य ठीक ज्ञानी जीवोंके सम्बोधनार्थ भेद प्रभेद रूपसे सूत्र, गाथा, टीका, टिप्पणी सहित रचकर प्रकाशित करते हैं । इसे ही जिनवाणी व जिनागम व प्रवचन आदि कहते हैं । पूर्वकालमें जब द्रव्य, क्षेत्र, काल भावोंकी अनुकूलता थी, तब इस क्षेत्रमें अनेक दिगम्बर मुनियोंके संघ

यत्र तत्र धर्मोपदेश करते हुए विचरते थे, परन्तु कालदोषसे अब दिगम्बर साधुओंका सम्प्रदाय दृष्टिगोचर नहीं होता है, इसलिये धर्मकी परम्परा पूर्वाचार्योंके द्वारा रचित ग्रन्थोंके आधारसे ही चलती है।

श्री महावीरस्वामीके मोक्ष जानेके बाद गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी और जम्बूस्वामी ये तीन केवली और विष्णुनंदि, मित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवली हुए। उसके बाद दिनोंदिन ज्ञानका विच्छेद होने लगा, तब जो दिगम्बर ऋषि उस समय इस क्षेत्रको अपने चरण-रजसे पवित्र करते थे, उन्होंने विचारा कि कालदोषसे दिनों दिन ज्ञानकी न्यूनता होती जाती है इसलिये यदि कुछ समय और भी गया, तो सत्य धर्मका सर्वथा लोप हो जायगा और इस परम पवित्र सर्वके कल्याणकारी जैन धर्मको लोग अपनी अपनी कषाय बुद्धि अनुसार दूषित करके प्राणियोंको उन्मार्गमें फंसावेंगे इत्यादि, ऐसा समझकर उन परमदयालु महामुनियोंने ग्रन्थोंकी लेखन रूप क्रिया पश्चात् उन्हींका आधार लेकर पीछे बहुतसे ग्रन्थोंकी रचना की।

इसलिये जो महानुभाव इन पवित्र ग्रन्थोंको मन वचन कायसे भक्ति और श्रद्धापूर्वक अर्थ उतारण कर पढ़ते हैं, दूसरोंको पढ़ाते हैं, दूसरोंसे सुनते हैं, और दूसरोंको सुनाते हैं, वे ही सच्चे कल्याणके मार्गको प्राप्त होते हैं वे [1]सम्यग्दर्शनको प्राप्त होकर सम्यक्ज्ञानको प्राप्त होते हैं, फिर [2]सम्यक्चारित्रको धारण करके अविनाशी पद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।

१—शास्त्रोत्पत्तिका विशेष वर्णन श्रुतावतार कथामें देखो।
२—देखो सर्वधर्म चार्ट नं० २

इस प्रकार श्रुतभक्ति या प्रवचन भक्ति नाम भावनाका स्वरूप कहा । जैसा कहा भी है—

आगम छंद पुराण पढ़ावत, साहित्य तर्क वितर्क बखाणे ।
काव्य कथा नव नाटक अंक सु ज्योतिष वैधक शास्त्र प्रमाणे ।
ऐसे बहुश्रुत साधु नमूं जो, द्वादश अंग सर्व पढ़ जाने ।
ज्ञान कहे तस पाय नमूं, श्रुत पार गये मन गर्व न आनें । १२।

इति बहुश्रुतभक्ति भावना ।

(१४) आवश्यकापरिहाणि भावना ।

आवश्यकापरिहाणि—अर्थात् सामायिक, वंदन, स्तवन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छः नित्यावश्यक क्रियाओंमें हानि (शिथिलता) नहीं करना । आवश्यक अर्थात् नियत कृत्य (जरूरीकाम) को कहते हैं, उक्त छः कृत्य इसलिये आवश्यक नियत हैं कि इनसे आत्माकी शुद्धि होती है, कर्माश्रवके द्वार रागद्वेष कम होते हैं, सात्विकता प्राप्त होती है, पापोंसे भय होता है, पुण्यकी वृद्धि होती है, प्रमाद तथा विषयकषायोंके द्वारा लगे हुए दोषोंका निराकरण होता है । इत्यादि ऐसे अनेकों लाभ होते हैं। इसलिये इनको नित्य प्रति करना चाहिये ।

इनमें प्रथम ही सामायिक कहा है । सामायिकसे समस्त-

भावोंकी प्राप्ति होती है । इसमें मन, वचन, कायकी शुभाशुभ प्रवृत्तिको रोककर शत्रु, मित्र, महल, मशान, मणि कांच, तृण, कंचन, सुख दुःख, जीवन मरण, स्वजन परजन, रंक श्रीमान्, राजा प्रजा इत्यादिमें रागद्वेष रहित समभाव धारण करना । अर्थात् यह विचार करना कि मैं इन सब पदार्थोंसे भिन्न सच्चिदानंद स्वरूप अखंड एक अविनाशी चैतन्य आत्मा स्वयंभू हूं, और यह जो कुछ दृष्टिगोचर होता है; सो सब मोहदृष्टिसे ही इष्टानिष्ट स्वरूप भासता है, इसमें मेरा कुछ भी नहीं । यह तो केवल पौद्गलिक विकार हैं, इससे मेरा अनादि कालसे संयोग सम्बन्ध हो रहा है । वास्तवमें सम्बंध नहीं है; क्योंकि ये सब मुझसे भिन्न हैं । और तो क्या, यह शरीर भी (जिससे मैं वर्तमानमें मिल रहा हूं) मेरा नहीं है, तो फिर अन्य पदार्थ तो प्रत्यक्ष भिन्न ही हैं । सो इनमें रागद्वेष करके मैं अपने सच्चिदानंद स्वरूप आत्माको क्यों दुखी करूं ? इत्यादि वैराग्य भावोंके द्वारा साम्यभाव धारण करता है, यही सामायिक है । इससे आस्रवका द्वार बन्द हो जाता है अर्थात् संवर होता है । क्योंकि मन वचन कायकी क्रियाओंसे ही कर्मका आस्रव होता है । आस्रव अर्थात् योगोंकी प्रवृत्तिका रुकना सो ही संवर कहाता है ।

(२)—स्तवन—चतुर्विंशत् तीर्थंकरों व पंचपरमेष्ठीके गुणानुवाद गाना अर्थात् उनके गुणोंको स्मरण करके प्रशंसा—स्तुति करना, सो स्तवन है । जैसे स्वयंभू सहस्रनामादि स्तोत्रका सार्थ मनन करना ।

(३)—वंदन—किसी एक तीर्थंकर अथवा एक परमेष्ठीकी स्तुति भक्ति वंदनादि करना सो वंदन है । जैसे भक्तामर महावीराष्टक पार्श्वनाथस्तोत्रादि सार्थ (अर्थ समझ समझकर)

मनन करना । इससे यह अभिप्राय नहीं है कि अमुक कविका बनाया हुआ अमुक स्तोत्र ही पढ़ा जाय, किन्तु उक्त आशयको लिये हुए कोई भी स्तोत्र किसीका किया हुआ, भाषामें हो व संस्कृत प्राकृत (जो भलीभांति समझमें आवे) चाहे स्वयम् भक्तिवश रचकर तैयार किया हो सो पढ़कर शिरोनति नमस्कार आदि क्रिया करना ।

(४)—प्रतिक्रमण—अपने मन, वचन, कायसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे भूतकालमें किये हुए पापों अर्थात् प्रमादादि कषायके कारण लगे हुए दोषोंका स्मरण करके, स्वात्म निंदा करते हुए, उन दोषोंके परिहारार्थ, अपने गुरुके निकट अथवा गुरुके अभावमें जिन प्रतिमाके सन्मुख अथवा किसी एकान्त स्थानमें बैठकर आलोचना करे और उनके झूठे होने अर्थ यथोचित प्रायश्चित्त लेवे, ताकि किये हुए पापोंसे निवृत्ति मिले-निराकुलता हो । इसे ही प्रतिक्रमण कहते हैं ।

(५)—प्रत्याख्यान—भविष्यमें यमरूप (यावज्जीव) अथवा नियमरूप (कुछ कालकी मर्यादा लिये हुए) से पापक्रियाओंका त्याग करे, अर्थात् आगामी उनके न करनेकी प्रतिज्ञा करे, ताकि मन और इन्द्रियां वशमें हों इसे प्रत्याख्यान कहते हैं।

(६)—कायोत्सर्ग—शरीरसे ममत्व भावका त्याग कर मनको सब ओरसे रोककर किसी एक स्थानमें अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें अथवा पंचपरमेष्ठीके गुण चितवनमें लगाना, सो जहांतक हो परपदार्थोंसे भिन्न अपने आत्मामें ही स्थिर करना इसे शुक्लध्यान कहते हैं । यदि दृढ़ता न हो सके तो तत्त्व चितवन या जिनेन्द्र गुण स्तवन आदिमें लगावे, (इसे *धर्मध्यान कहते हैं) और ध्यानके समयमें आये हुए उपसर्ग तथा परी-

* ध्यानका विशेष स्वरूप 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थमें देखो ।

षह्मादिकोंसे विचलित न होवें, किन्तु उन्हें स्वकृत कर्मजनित उपाधि जानकर स्थिर रहें. मन, वचन कायको चलायमान न होने देवे, इसे कायोत्सर्ग कहते हैं ।

इस प्रकारसे ये छः आवश्यक स्वशक्ति अनुसार गृहस्थ व साधुको नित्य प्रति करना चाहिये ।

गृहस्थके लिये देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छः कर्म भी कहे हैं, जो कि यथाशक्ति नित्यप्रति करना आवश्यक हैं । ये छः ऊपरकी भावनाओंमें गर्भित हो चुके हैं इसलिये यहां पृथक् करके विशेष नहीं कहे हैं । जैसे देवपूजा अर्हद्भक्तिमें, गुरुसेवा आचार्य व बहुश्रुत भक्तिमें, तप तपभावनामें, दान त्यागभावनामें आ चुका है । संयम पांचों इन्द्रियों और मनको विषयोंसे रोककर वश करना, तथा छः कायके जीवोंकी मन वचन कायसे हिंसा नहीं करना, और स्वाध्याय-आत्मज्ञानको बढ़ानेवाले तथा पापादि क्रियाओंसे विरक्त करनेवाले सच्छास्त्रोंका (ग्रन्थोंका) पढ़ना, पढ़ाना, मनन करना, धारण करना और उपदेश करना । इस प्रकारसे ये षडावश्यक भी नित्यप्रति पालन करना चाहिये और अन्यान्य पालन करनेवाले साधर्मीजननोंमें भक्ति व प्रेम करना चाहिये । अर्घ उतरन करना चाहिये । इस प्रकार आवश्यकापरिहाणि भावनाका स्वरूप कहा । सो ही कहा है—

भाव धरे समता सब जीवसे, पाठ पढ़े स्तुति मनहारी ।
वंदन देव करे स्वाध्याय, सदा मन साधजु पंच प्रकारी ॥
तीनहुं काल करे प्रतिक्रमण, ध्यान करे तन ममत निवारी ।
ज्ञान कहे धन वे मुनिराज, करे जु अवश्य त्रियोग सम्हारी ॥१४॥

॥ इति आवश्यकापरिहाणि भावना ॥

(१५) मार्गप्रभावना भावना।

मार्गप्रभावना— अर्थात् सम्यक् रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग (जिनधर्म) का प्रकाश जिस प्रकार सर्वत्र प्रसरित हो सके उस प्रकार उसे सर्वसाधारणमें फैला देना। ऐसा ही स्वामी समंतभद्राचार्यने कहा है—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१८॥
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार अ० १)

अर्थात्—जिस समय अज्ञानतिमिर (मिथ्या मतोंका प्रचार) चहुं ओर व्याप्त हो रहा हो, और पवित्र जैनधर्मका अभावसा हो रहा हो, उस समय जिस प्रकारसे हो सके वैसे जैनधर्मका माहात्म्य प्रकाशित कर देना सो ही प्रभावना है।

प्रभावनासे अर्थात् जैनधर्मके प्रचारसे अपनी आत्मामें उदारता बढ़ती है। प्रभावनासे केवल जैनधर्मकी प्रशंसा करा लेनेका अभिप्राय नहीं है, क्योंकि जब किसी पदार्थकी भलाई या बुराई सर्वोपरी प्रगट हो जाती है, तब स्तुति किंवा निंदा तो स्वयमेव होती ही है। इसलिये प्रशंसामात्र प्राप्त कर लेनेसे ही कुछ लाभ नहीं है, और न जैनानुयायी जीवोंकी संख्या ही बढ़ा लेनेके ही विचारसे प्रभावना करनेकी आवश्यकता है; किन्तु प्रभावना इसलिये करना चाहिये, ताकि विचारे संसारके दीन प्राणी जो चतुर्गतिमें भ्रमण कर जन्म मरण आदिक अनेकों भव सम्बन्धी दुःखोंको भोग रहे हैं और मोहवश पर-पदार्थोंमें अपनत्व धारण कर निज स्वरूपको भूले हुए हैं। वे पवित्र जैनधर्मके प्रभावसे स्वरूपका श्रद्धान कर, रत्नत्रय स्वयमू

मोक्षमार्गको ग्रहण कर अपना कल्याण करें। अर्थात् समस्त संसारमें—

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

(अमितगति आचार्यकृत सामायिकपाठ)

—का नक्कारा सब ओर बजने लगे ताकि संसारके सभी प्राणी निर्माण हुए सुखसे काल व्यतीत करें। अर्थात् सब जीवमात्र परस्पर मित्रवत् प्रेमभावसे रहें, अपनेसे गुणवान पुरुषोंमें विनय और प्रमोदभावको धारण करें और उनके गुणोंका अनुकरण करें, न कि डाह (ईर्षा) करें। दीन दुखी असहाय जीवोंपर करुणा (दया) भाव रखें, और जो विपरीत मार्गावलम्बी हैं, और जिनको सन्मार्गका उपदेश करनेसे वे उल्टे कलुषित होते हैं, ऐसे जीवोंमें क्रोधादि भाव न करके माध्यस्थ भाव धारण करने लगें, इत्यादि भाव सब जीवोंमें अनेकप्रकार फैल जायगें तो स्वयमेव परस्परका द्वेषभाव मिट जावेगा, परस्पर एक दूसरेके मित्रवत् सहायक हो जायगें। इस लोक सम्बन्धी सुख (धनादि) की भी वृद्धि होगी, और परलोकमें भी कषायोंकी मंदतासे देवगति आदि उत्तम गतिको प्राप्त होंगे तथा अनुक्रमसे निर्वाण पद भी प्राप्त होगा। तात्पर्य कहनेका यही है कि जैनधर्मका प्रचार (प्रभावना) समस्त प्राणियोंके लिये ही उदार भावोंसे करना चाहिये।

प्रभावना—द्रव्य क्षेत्र, काल और भावोंके अनुसार भिन्न२ रीतियोंसे होती है अर्थात् विद्वान् पुरुष तो तत्वचर्चासे प्रसन्न होते हैं- उन्हें न्याय व युक्तिपूर्वक प्रमाण, नय. इत्यादिके द्वारा

पदार्थका स्वरूप समझा देनेसे ही वे असत् पक्षको छोड़कर सन्मार्ग पर आ जाते हैं। और एक ही विद्वानके सन्मार्ग पर आनेसे उसके अनुयायी भी प्रायः सन्मार्गमें लग जाते हैं। क्योंकि वह विद्वान अपने अनुयायियोंको किस प्रकार समझाना चाहिये, यह भलीभांति जानता है। इसलिए उसके समझने पर वह अपने अनुयायियोंको भी अनेक युक्तियों द्वारा समझा कर सन्मार्गमें लगा सकता है। ऐसा ही पूर्वकालमें हमारे ऋषियोंने किया है।

जैन अग्रवाल व हूमड़ जातियोंके इतिहाससे विदित होता है कि लोहाचार्य, जिनसेनाचार्य आदि महामुनियोंने अपने उपदेशसे लाखों मनुष्योंको हिंसादि पापोंसे छुड़ाकर जैनी बनाया था। इसलिये सबसे उत्तम और प्रथम उपाय तो प्रभावनाका यही है कि अच्छे२ विद्वान द्रव्य क्षेत्र काल और भावके ज्ञाता, धर्मके मर्मज्ञ, सदाचारी, अनुभवी, उदार, सन्तोषी और मंदकषायी इत्यादि सद्गुणी उपदेशकों द्वारा शहरोंशहर, ग्रामोंग्राम और देशोंदेशमें हरसमय दौरा कराकर उपदेश करावें। और इन उपदेशकोंको निराकुल करके उपदेश करने भेजे ताकि वे किसीसे कुछ भी याचना न करे। क्योंकि "लोभ पापका बाप बखाना" जहां किसीसे इन उपदेशकोंने कुछ भी याचना की, कि फिर उपदेशका महत्व उनपर नहीं पड सकता है, वे उपदेशकोंको तुच्छ (भिक्षुककी) दृष्टिसे देखने लगते हैं, और डरने लगते हैं, कि कहीं ये कुछ मांग तो न बैठेंगे इत्यादि।

क्योंकि यथार्थमें यह कार्य पूर्वकालमें अधिकतर प्रायः मुनियोंके ही द्वारा होता था। वे महा तपस्वी निरपेक्ष धीर वीर स्वयम् अपने घरकी अतुल सम्पत्ति (राज्यादि विभव) छोड़कर अपने आत्माके कल्याणार्थ ही समस्त परिग्रहसे ममत्व रहित हुए, एकवार खड़े खड़े करपात्रमें ही स्वाद रहित अल्प भोजन

(जो कि श्रावकों द्वारा दिया भोजन लिये हुए शक्ति सह दिया जाय) करते हुए देश देशांतरोंमें भ्रमण करके जीवोंके कल्याणार्थ उपदेश करते थे। वे केवल उपदेश नहीं करते थे किन्तु उपदिष्ट मार्गपर चलकर दिखाते थे। उनका उपदेश निरपेक्ष बुद्धिसे सब जीवोंके लिये समानतासे होता था। वे पात्रका विचार कर उसके योग्य ही उपदेश देते थे, किसीसे उन्हें ग्लानि न होती थी। उन्होंने दुर्गन्धादि, चाण्डालों व पशुओं तकको उपदेश देकर सम्यक्त्व अंगीकार कराया, तथा व्रतादि देकर उनको सन्मार्गमें लगाया है। यही कारण था, कि उनका प्रभाव सिंह व्याघ्रादि जैसे हिंसक प्राणियोंपर भी पड़ता था जिससे कि वे क्रूर प्राणी उनके दर्शन मात्रसे ही क्रूरता छोड़ देते थे।

यद्यपि आजकल हमारे अशुभोदयसे उनका अभाव है तो भी सद्गृहस्थोंद्वारा यह कार्य अवश्य किसी अंशमें सफल हो सकता है। वर्तमान समयमें उपदेशकोंकी बहुत ही आवश्यकता है। देखो, इन अर्वाचीन क्रिश्चियन आदिके मतोंका प्रचार उपदेशकों के ही द्वारा इतना बढ़ गया है, कि वर्तमान संसारमें प्रायः सब जगह करोडों ईसाई बढ़ते जाते हैं। क्योंकि आजकल उनके लाखों उपदेशक यत्रतत्र विचरते हैं। और वे हर प्रकारसे लोगोंकी सहायता करते तथा उपदेशादि देते हैं।

दूसरा उपाय प्रभावनाका यह है कि जैनधर्मके ग्रंथोंका प्रचार करना। प्रत्येक विषयके लेख, ट्रैक्ट रूपसे छपाकर सर्वसाधारणमें बंटवाना चाहिये। पुस्तकालय, वाचनालय और विद्यालय खोलना चाहिये, समाचारपत्रोंमें प्रभावक लोगोंके द्वारा लेखोंको लिखवाकर प्रकाशित करना चाहिये। प्राचीन ग्रन्थोंका संरक्षण, पठनपाठन तथा प्रकाशन होना चाहिये। तथा

वे ग्रंथ अल्प मूल्यमें या बिना मूल्य सर्वसाधारण जैन हों व अजैन सबके पास तक पहुंचाना चाहिये। ग्रन्थ सुन्दर मजबूत कागजोंपर बड़े टाईपमें छपकर सजिल्द, विद्वानों द्वारा संशोधित होकर प्रकाशित होना चाहिये।

तीसरा उपाय—यह है कि यथा अवसरोंपर समय समय बड़े बड़े सम्मेलन करके विद्वानोंके विद्वत्तापूर्ण धार्मिक, सामाजिक और नैतिक उन्नतिविधायक व्याख्यान कराना चाहिये। और ऐसे अवसरोंपर अन्यमती विद्वानों द्वारा की हुई जैनधर्मपर शंकाओंका भी निराकरण करना चाहिये।

चौथा उपाय—संघ निकालना, अर्थात् तीर्थादि पर्यटनके लिये बहुत जनसमुदाय सहित निकलना। संघमें संयमी व्रती विद्वान, पंडित, तथा उदारवृत्तिके धारी सच्चरित्र त्यागी पुरुष रहें, इसलिये स्थान स्थानपर जहां जाना वहां उनके व्याख्यान कराना, ताकि उनकी विद्या और चारित्रका प्रभाव जनसाधारण पर पड़े।

पांचवा उपाय—प्राचीन जैनमंदिरोंका जीर्णोद्धार कराकर अथवा यदि जिस स्थानमें जैनमंदिर न हो, और जिन दर्शनाभिलाषी जनों (श्रावकों) की संख्या यथोचित हो, और वहांपर पूजन प्रक्षाल आदिका प्रबन्ध भी यथोचित चल सके, तो उस क्षेत्रकी आवश्यकताके अनुसार जैन मंदिर बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करवाना, और जिन भगवानके पञ्च कल्याणकोंका उत्सव कराकर सर्वोपरि जैनधर्मका प्रभाव फैलाना, पञ्चकल्याणकका भाव अच्छी तरह सबको दिखाना, ताकि लोग यह समझ जांय, कि ऐसे तीर्थङ्कर सदृश महान् पुण्यात्मा कि जिनके गर्भजन्मादिके समय देवोंने रत्न वर्षाये, अनेक उत्सव किये,

जिनके सेवक देव और देवेन्द्र विद्याधर और बड़े २ राजा महाराजा थे, सो भी तीन लोककी विभूतिको तृणवत् निःसार समझकर छोड गये, उन्हें मृत्यु और जन्मसे भय हो गया, वे भी कर्मके बंधनसे डर गये, इसलिये जिन दीक्षा ग्रहण कर आप तो संसारसे परे हो ही गये और हम लोगोंको भी कल्याणका मार्ग बता गये हैं। सो जब कि मौतने उन्हें भी नहीं छोड़ा, कर्म उनके पीछे भी लगा रहा कि जिसके लिये उन्हें यह त्रैलोक्की विभुति विनाशीक जानकर छोड़ना पड़ी, तो भला हम दीन, शक्तिक्षीण, पुण्यहीन जनोंकी तो गिनती ही क्या है?

अवश्य ही एक दिन हमको काल कवलित कर जावेगा, और यह समस्त परिग्रह पुत्र कलत्र गृह धन धान्यादि यहीं पड़ा रह जावेगा, केवल स्वकृत पाप व पुण्यकर्म ही साथ जावेंगे। यह शरीर भी गल सड़कर ढेर हो जावेगा, इसलिये हमको भी जो मार्ग प्रभु दिखा गये हैं, उसी सत् पथमें लग-कर अपना कल्याण करना चाहिये इत्यादि २।

सो ऐसे अवसरोंपर भी संयमी, व्रती, उदासीन, त्यागी विद्वानोंका समागम अवश्य मिलाना चाहिये। तथा उनसे व्याख्यान और तत्वचर्चा खूब होना चाहिये। उत्तमोत्तम तत्वोपदेशी भजनपद गाना, भक्तिवश जिन भगवानके सामने नृत्य भजन संगीत स्तवनादि करना, पूजा करना, बड़े बड़े त्रेसठ शलाकादि पुरुषोंके जीवन-चरित्र लोगोंको सुनाना, इत्यादि अनेक प्रकारसे प्रभावना करना चाहिये। यथार्थमें मंदिरादि बिम्बप्रतिष्ठाओंका यही अभिप्राय है, न कि ज्यों त्यों करके मंदिरोंकी संख्या बढ़ाते चले जाना।

छठवां उपाय—जैनियोंकी ओरसे सर्वसाधारणके हितार्थ उदारतापूर्वक जैन धर्मशालायें, श्राविकाश्रम, अनाथालय, विद्यालय, उद्योगशाला, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, पुत्रीशालायें, गौशाला, पांजरापोल आदि जीवदया प्रचारक संस्थायें खोली जांय और समान प्रकारसे सबको लाभ पहुंचाया जाय। प्रत्येक संस्थामें कुछ समय धर्मशिक्षाका आवश्यक रीतिसे नियत रहे, और सुयोग्य विद्वानों द्वारा शिक्षा दिलाई जाय। इस प्रकार चतुर्विध दानकी प्रवृत्ति की जाय।

सातवां उपाय—कुछ तीक्ष्ण बुद्धि विद्यार्थियोंको छात्रवृत्तियां देकर बड़े बड़े विद्यालयोंमें, कारखानोंमें तथा विदेशोंमें भेजकर विद्वान किये जांय, ताकि वे काम सीखकर आवें और अपनी अनुभवित विद्या और बुद्धि द्वारा समस्त देशवासियोंको लाभ पहुंचावें जिससे हिंसक लोगों द्वारा बनाया जानेवाला विदेशी माल, तथा हिंसा करके तैयार किया गया विदेशी माल हमारे देशमें आनेसे रुके।

जैसे परदेशी वस्त्र, विदेशी अशुद्ध खांड और अशुद्ध दवाइयां आदि। और इनके बदले अपने देशकी कती बुनी (हाथकी) शुद्ध खादी, बलिया बनारस बक्सर आदिकी शुद्ध खांड व स्वदेशी शुद्ध प्रासुक औषधियां ही उपयोगमें लाई जावें और हिंसाकी माता-इन मिलोंके बने चर्बीसे सने सूती व रेशमी (जोकि चौइन्द्री असंख्यात कीड़ोंको मारकर ही बनता है) के वस्त्र पहिरना सर्वथा रुक जाय। इससे मुख्य बात तो यह होगी कि हिंसा बंद होगी और दूसरी बात यह होगी कि देशके धनकी रक्षा होगी, गरीबोंकी आजीविका चलेगी। हिंसकोंकी आय कम होनेसे करोडों निर्दोष गाय, भैंसे बकरे आदि पशु न मारे जांयगे, घी दूध आदि खानेको मिलेगा, सुखसे खेती

होगी, सर्वत्र शांति धर्मका प्रकाश फैलेगा, अहिंसाका डंका बजेगा और निर्विघ्न धर्मपालन हो सकेगा इसलिये शुद्ध स्वदेशी खादी, खांड, औषधियोंका प्रचार करना और विदेशी वस्तुओंका प्रचार बन्द करना।

जिन मंदिरोंमेंसे विदेशी वस्त्र व अन्य रेशम आदिके अपवित्र पदार्थ निकाल कर शुद्ध स्वदेशी खादी आदि ही काममें लेना। इत्यादि। यही सप्त क्षेत्र प्रभावनाके हैं तात्पर्य यह है कि जिस तरह बनै उस तरहसे जैन धर्मका प्रचार करना यही प्रभावना है। इसप्रकार प्रभावनांगका स्वरूप कहा।

जैसा कि कहा है—

बहु' दान करैं परमारथको, जिन पंचकल्याण महोत्सव ठाणे।
भक्ति करैं बहु गाय बजाय, सुनृत्य करैं जिय शास्त्र बखाणें॥
संघ बुलाय सुतीर्थ करैं, उपदेश कराय मिथ्यातको हाने।
ज्ञान कहै जिन मार्ग प्रभावन, विरले हि पुण्य पुरुष मन आने॥

इति मार्गप्रभावना भावना ॥ १५ ॥

(१६) प्रवचनवात्सल्य भावना ।

प्रवचनवात्सल्य—अर्थात् साधर्मी तथा प्राणीमात्रमें निष्कपट भावसे प्रेम करना और सदा उनकी भलाई चाहना-यथाशक्ति आदर सत्कार करना इत्यादि । ऐसा ही स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा है—

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यम् वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार अ० १)

अपने सहधर्मीजनों (मुनि अर्जिका श्रावक श्राविकाओं) के प्रति उत्तम भावोंसे छलकपट रहित यथायोग्य आदरसत्कार करना भक्ति तथा प्रेम प्रदर्शित करना सो वात्सल्य अंग है। अर्थात् मुनि तथा आर्यिका तो अपने आप कल्याणके मार्गमें गमन करके औरोंको भी मार्ग दिखाते हैं। उनका आदरसत्कार तो केवल इतना ही है कि जब वे अपने रत्नत्रयके साधनभूत शरीरकी रक्षार्थ आहारके लिये विहार करते हुए आवें, तो उन्हें नवधा भक्ति करके शुद्ध प्रासुक निर्दोष (छयालिस दोष रहित) आहार देना, कमण्डलुमें अष्ट प्रहरकी मर्यादावाला प्रासुक जल भर देना, शौचोपकरण (कमण्डलु), संयमोपकरण (पीछी) और ज्ञानोपकरण (शास्त्र पुस्तकादि) आवश्यकतानुसार भेट करना, अथवा आर्यिकाजीको यदि आवश्यक हो तो एक सफेद मोटे कपड़े खादी) की साड़ी भेट कर देना । यदि मुनि व आर्यिकाके शरीरमें कोई वात पित्त कफादि विकारजनित पीड़ा मालूम पड़े तो भोजनके समय

शुद्ध प्रासुक उनके योग्य औषधि व पथ्याहार देना, उनकी विनय तथा वैयावृत्त करना और उनके द्वारा किये हुए उपदेशको ध्यानपूर्वक सुनकर धारण करना, इत्यादि । यही उनका आदर सत्कार है ।

कुछ उन्हें रुपया मुहर वस्त्राभूषण आदि पदार्थ तो चाहिये ही नहीं । उन्हें तो केवल संयम साधनार्थ आयुके अन्त तक शरीरको सरस व नीरस भोजन देकर रक्षा करना है । इसलिये भक्तिसह उनका उनके पदके अनुसार ही सत्कार करना चाहिये क्योंकि धर्मात्माके कारण ही धर्मकी प्रवृत्ति होती है । सो यदि मुन्यादिका सत्कार न करेंगे तो वह मार्ग बंद हो जायगा, फिर कोई मुनिव्रत धारण ही न करेगा, तब यथार्थ मोक्षमार्गकी भी प्रवृत्ति न रहेगी । और श्रावक तथा श्राविकाओंका आदरसत्कार भी उनके पद (योग्यता) के अनुसार (कि वे कौनसी प्रतिमाके धारी हैं) करें ।

अर्थात् यदि वे उत्तम श्रावक दशमी व ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक होवे, तो उनका भक्तिपूर्वक भोजन, कोपीन, खंड वस्त्र, पीछी, कमंडलु शास्त्रादि भेंट करके तथा वैयावृत्त करके सत्कार करना और मध्यम व जघन्य श्रावक हों तो उसी प्रकार भोजन, वस्त्र, गृह, पूंजी औषधी, शास्त्र इत्यादि, जो उन्हें आवश्यक होवे भेंट कर निराकुल करें, उनसे भक्ति और प्रेमपूर्वक वर्ताव करें, तथा भोजन भेषज शास्त्र उपकरणादि देकर सत्कार करें, और वैयावृत्त करे, करावे ।

इसी प्रकार यदि अविरती, सम्यक्त्वी गृहस्थ हो तो उसका भी आवश्यकतानुसार भोजन वस्त्रादिसे सन्मान करके उपदेश-

पूर्वक प्रेमसे कुछ व्रतादि ग्रहण करावे । इस प्रकार रत्नत्रयके धारी पुरुषोंका सत्कार करके हर्षित होवे और अपनेको धन्य समझे । और जो धर्मसे पराङ्मुख (अजैन) हो तो उसे भी दया और प्रेमपूर्वक वर्ताव करके भोजन वस्त्रादि अनेक प्रकारसे सत्कार कर उपदेश करके सम्यक् रत्नत्रय मार्ग ग्रहण करावे । तथा पशु, पक्षी आदि दीन निर्बल प्राणी व मनुष्यादि दुःखी दरिद्रियोंका यथाशक्ति प्रेमसे और दयाभावसे उपकार करे, उनकी जीविकादिका उपकार कर देवे, इत्यादि अनेक प्रकारसे जैसे बने वैसे—

" उदारचरितनां तु वसुधैव कुटुम्बकम् "

इस नीतिका पालन करते हुए संसारके प्राणीमात्रके दुःखोंको अपना ही दुःख समझकर उनके दुःखमोचनका उपाय करें । कहा है कि—

मर गये इन्सान वे जो, मर गये अपने लिये ।

पर वे अमर इन्सां हुए, जो मर गये जगके लिये ।

तात्पर्य—यों तो सभी मरते हैं, जीते हैं, जन्मते हैं परन्तु भर्तृहरिजीके कथनानुसार कि—

परिवर्तनि संसारे मृतः को वा न जायते ।

स जातो येन जातेन, याति वंश समुन्नतिम्॥

भावार्थ—परिवर्तनरूप संसारमें कौन नहीं जन्मता व मरता है परन्तु मरना व जन्मना उसीका सार्थक है, कि जिसने अपनी जाति तथा वंशकी उन्नतिमें जीवन लगाया है यथार्थमें जो परके दुःखको दूर करके अपने आपको सुखी मानते हैं वे पुरुष धन्य हैं । इस प्रकारके छलकपट मानादि कषाय रहित

अथवा सर्व प्रकारके स्वार्थ बिना जो प्रेम व भक्तिभाव तथा दया करके भूत (संसारी प्राणी) और व्रतियोंकी सेवा, सत्कार तथा वैयावृत्त करना है उसको ज्ञानी वात्सल्य भाव कहते हैं।

वात्सल्यता धारण करनेसे परस्परमें प्रेम, उदारता, सच्चरित्रतादि गुण बढ़ते हैं, प्राणी परस्पर सहानुभूति करना सीखते हैं, रागद्वेष घटनेसे सुखकी वृद्धि होती है, कार्यका मार्ग सरल हो जाता है, विघ्नों और विघ्नोंका भय नहीं रहता है; क्योंकि जब कोई शत्रु ही नहीं रहेगा, तो विघ्न कौन करेगा, इत्यादि अनेकों लाभ होते हैं।

यथार्थमें संसारका कार्य भी विना वात्सल्यभावके नहीं निकल सकता है। तात्पर्य—वात्सल्यभावसे उभय लोक सम्बन्धी हित साधन होता है, और चित्त सदा प्रसन्न रहता है, कभी भी निरुत्साहता नहीं आने पाती है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य स्त्री इत्यादि सभीको यह वात्सल्य गुण धारण करना चाहिये। परन्तु स्मरण रहे कि यह वात्सल्यता किसी स्वार्थ व मान मायादि कषायोंकी पुष्टिके लिये नहीं, किन्तु निःस्वार्थ भावोंसे केवल परमार्थ ही के लिये होना चाहिये।

इस प्रकार प्रवचनवत्सल्यत्व नाम भावनाका स्वरूप कहा सो ही कहा है—

निर्मल भक्ति प्रमोद भरे, चौ संघतनो सत्कार करीजे।
दीन दुखी लख जीव सदा, करुणा करके चहुं दान सु दीजे॥
धेनु यथा निज बालकपर, कर प्रेम सुधी छल आदि तजीजे।
ज्ञान कहे भवि लोक सुनो, धर वत्सल्यभाव सदा सुख लीजे॥

इति वात्सल्यभावना ॥ १६ ॥

ऊपर कही हुई षोड़श भावनाओंका यथार्थ पालन करनेसे, और तो क्या; किन्तु तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है इसलिये यथाशक्ति प्रत्येक नरनारियोंको ये धारण करना चाहिये।

जैसा कि कहा है—

षोड़स कारण भावन निर्मल, मन वच काय सम्हारके धारे।
कर्म अनेक हने अति दुर्धर, जन्म जरा भय मृत्यु निवारे॥
दुःख दरिद्र विपत्ति हरे, भवसागरको परपार उतारे।
ज्ञान कहे यह षोड़स कारण, कर्म निवारण सिद्धि सुधारे॥

॥ इति षोड़सकारण भावना ॥

सोलहकारण महिमा ।

दोहा—षोडस कारण गुण करे, हरे चतुर्गति वास ।
पाप पुण्य सब नाशके, ज्ञान भानु परकास ॥ १ ॥

चौपाई ।

दर्शन विशुद्धि धरे जो कोई । ताको आवागमन न होई ॥
विनय महा धारे जो प्राणी । शिव वनिताको सखिय बखाणी ॥२॥
शील सदा दृढ जो नर पाले । सो औरनकी आपदा टालें ॥
ज्ञान अभ्यास करे मन मांहीं । ताके मोह महातम नाहीं ॥ ३ ॥
जो सम्वेग भाग विस्तारे । स्वर्ग मुक्तिपद आप निहारे ॥
दान देय मन हर्ष विशेखै । यह भव यश परभव सुख देखे ॥ ४ ॥
जो तप तपै खपे अभिलाषा । चूरे कर्म शिखर गुरु भाषा ॥
साधु समाधि सदा मन लावै । तिहूं जग भोग भोग शिव जावें ॥५॥
निशि दिन वैयावृत्य करैया । सो निश्चय भव नीर तरैया ॥
जो अर्हन्त भक्ति मन आने । सो नर विषय कषाय न जाने ॥ ६ ॥
जो आचारज भक्ति करे है । सो निर्मल आचार धरे है ॥
बहुश्रुतिवंत भक्ति जो करई । सो नर सम्पूरण श्रुत धरई ॥ ७ ॥
प्रवचन भक्ति करे जो ज्ञाता । लहे ज्ञान परमानंद दाता ॥
षट् आवश्यक काल जो साधे । सो ही नर रत्नत्रय आराधे ॥ ८ ॥
धर्म प्रभाव करे जो ज्ञानी । तिन शिवमारग रीति पिछानीं ॥
वत्सल्यांग सदा जो ध्यावै । सो तीर्थंकर पदवी पावै ॥ ९ ॥

दोहा—यही सोलह भावना, सहित धरे व्रत जोय ।
देव इन्द्र नर पद, द्यानत शिवपद होय ॥ १० ॥

ग्रन्थकर्त्ताकी भावना ।

सम्यग्दर्श[1] विशुद्धि, विनय सम्पन्न[2], सुशीलविना[3] अतिचारे ।
अभीक्षण ज्ञान उपयोग[4] धरें, संवेग[5] सुशक्तित्याग[6] तपारे[7] ॥
साधु समाधि[8] सुधार वैयावृत[9] अरहंत[10] सूर[11] सुभक्ति उचारे ।
बहुश्रुत[12] प्रवचन[13] भक्ति धरे समतादिक षट्[14] आवश्य सम्हारे ॥१॥
मार्ग प्रभावन[15] कारण आगम, जैन करे उपदेश प्रचारे ।
श्रुतव्रती जन देख सुखी है, बालक गौवत वत्सल[16] धारे ॥
यैही सोलह भावन भाय, भये है हैं तीर्थंकर सारे ।
'दीप' कहे दिन धन्य वहे जब, भावना भाय लहूं भव पारे ॥२॥

बदि आषाढ़ तिथि मार्गणा[14], संवत् वीर जिनेश ।
तीर्थंकर[24] हन घातिया[4], कियो धर्म[1] उपदेश ॥१॥
लेख पूर्ण तादिन कियो निज परको हितकार ।
षोडसकारण भाव यह, दीपचन्द परवार ॥२॥

इति षोडशभावना कथन संक्षेपतः सम्पूर्णम् ।

षोडशकारणके सवैये ।

(१) दर्शनविशुद्धि ।

दर्शनशुद्धि न होवत ज्योंलग, त्योंलग जीव मिथ्यात कहावे ।
काल अनंत फिरै भवमें महा, दुःखनको कहीं पार न पावे ॥
दोष पचीस रहित गुणाम्बुधि, सम्यग्दर्शन शुद्ध ठरावे ।
ज्ञान कहे नर सोहि बडो, जो मिथ्यात तजी जिन मारग ध्यावे ॥१॥

(२) विनयसम्पन्नत्व ।

देव तथा गुरुराय तथा तप, संयम शीलव्रतादिक धारी ।
पापके हारक कामके सारक, शल्य निवारक कर्म निवारी ॥
धर्मके धीर कषायके भेदक, पंच प्रकार संसारके तारी ।
ज्ञान कहे विनयो सुखकारक, भाव धरि मन राखो निवारी ॥२॥

(३) शील ।

शील सदा सुखकारक है, अतिचार विवर्जित निर्मल कीजे ।
दानव देव करे तस सेव, विषाद न भूत पिशाच पतिजे ॥
शील बडो जगमें हथियार, जु शीलकु उपमा काहेकु दीजे ।
ज्ञान कहे नहि शील बराबर, तातें सदा दृढ शील धरीजे ॥३॥

(४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ।

ज्ञान सदा जिनराजको भाषित, आलस छोडी पढे जु पढावे ।
द्वादश दोउ अनेकह भेदसु, नाम मति श्रुत पंचम पावे ॥
चारहु वेद निरंतर भाषित, ज्ञान अभीक्षण शुद्ध कहावे ।
ज्ञान कहे श्रुत भेद अनेकजु, लोक अलोक प्रगट दिखावे ॥४॥

(५) संवेग ।

मातन तातन पुत्र कलत्रन, संपति सज्जन ए सब खोटो ।
मंदिर सुन्दर कायसखा सब, कोइह कोहम अंतर मोटो ॥
भाव कुभाव धरी मन भेदत, नाहि संवेग पदारथ छोटो ।
ज्ञान कहे शिव साधनको जैसे, शाहको काम करेजो वणोटो ॥५॥

(६) त्याग ।

पात्र चतुर्विध देख अनुपम, दान चतुर्विध भावसु दीजे।
शक्ति समान अभ्यागतकू निज, आदरसु प्रणिपत्य करीजे ॥
देवत जे नर दान सुपात्र हि, तास अनेकहु कारण सीजे।
बोलत ज्ञान दई शुभ दान जु, भोगसु भूमि महा सुख लीजे। ६॥

(७) तप

कर्म कठोर गीरावनकू निज, शक्ति समान उपोषण कीजे।
बारह भेद तपी तप सुन्दर, पाप जलांजलि काहे न दीजे ॥
भाव धरी तप घोर करी, नर जन्म सदा फल काहे न लीजे।
ज्ञान कहे तप जे नर भावत, ताके अनेकह पातिक छीजे॥७॥

(८) साधु समाधि ।

साधु समाधि करो नर भाविक, पुन्य बढो उपजे अघ भाजै।
साधुकी संगति धर्मके कारण, भक्ति करे परमारथ छाजे ॥
साधु समाधि करे भव छूटत, कीर्ति घटा त्रयलोकमें गाजे।
ज्ञान कहे जग साधु बडे गिरी शृङ्ग गुफा बीच जाय बिराजे॥८॥

(९) वैयावृत्तिकरण ।

कर्मके योग विथा उदये मुनि, पुङ्गवकू तस भेषज दीजे।
पित्त कफानल ताम भगंदर, ताप कुशूल महामद छीजे॥
भोजन साथ बनायके औषध पथ्य कुपथ्य विचारके कीजे।
ज्ञान कहे नित ऐसी वैयावृत्त, जो हि करे तस देव पतीजे॥९॥

(१०) अर्हत् भक्ति ।

देव सदा अरिहंत भजो जिहि, दोष अठार किया अति दूरा ।
पाप पखाल भयो अति निर्मल, कर्म कठोर कीये सब चूरा ॥
दिव्य अनंत चतुष्टय शोभित, घोर मिथ्यांध निवारण शूरा ।
ज्ञान कहे जिनराज अराधो, निरंतर जे गुण मंदिर पूरा ॥१०॥

[११] आचार्य भक्ति ।

देत तहि उपदेश अनेकसु, आप सदा परमारथ धारी ।
देशविदेश विहार करे, दश धर्म धरे भव पार उतारी ॥
ऐसे आचार्य भाव धरी, भज तो शिव चाहत कर्म निवारी ।
ज्ञान कहे जिनभक्ति किनो, नर देखत हो मनमांहि विचारी ॥११॥

[१२] बहुश्रुतभक्ति ।

आगम छंद पुराण पढ़ावत, साहित्य तर्क वितर्क वखाणे ।
काव्य कथा नव नाटक पूजत, जोतिष वैदक शास्त्र प्रमाणे ॥
ऐसे बहुश्रुत साधु मुनीश्वर, जो मनमें दोउ भावज आणे ।
ज्ञान कहे तस पाय नमूं श्रुत, पार गये मन गर्व न आणे ॥१२॥

[१३] प्रवचनभक्ति ।

द्वादश अंग उपांग सदागम, ताकि निरंतर भक्ति कराये ।
वेद अनुपम चार कहे तस, अर्थ भले मनमांहि ठराये ॥
पढ़ो बहु भाव लिखो निज अक्षर, भक्ति करा बड़ पुंज रचाये ।
ज्ञान कहे निज आगम भक्ति, करो सद्बुद्धि बहु श्रुत पाये ॥१३॥

(१४) आवश्यकपरिहाणि ।

भाव धरै समता सब जीवसु, स्तोत्र पढ़े सुखमें मन धारी ।
काय उत्सर्ग करे मन प्रीतसु, वंदन देव तणो भवहारी ॥
ध्यान धरी मद दूर करी, दोउ बेर करे पडिक्कमण भारी ।
ज्ञान कहे मुनी सो धनवंतजु, दर्शन ज्ञान चारित्र उधारी ॥ १४॥

(१५) मार्गप्रभावना ।

जिनपूजा रचे परमारथसु जिन आगल नृत्य महोत्सव ठाणे ।
गावत गीत बजावत ढोल, मृदंगके नाद सुधांग वखाणे ॥
संघ प्रतिष्ठा रचे जल जातर, सद्गुरुकूं साहमोकर आणे ।
ज्ञान कहे जिन मार्गप्रभावना, भाग्य विशेष सुजानहि आणे ॥ १५

१६] प्रवचनवत्सलत्व ।

गौरव भाव धरी मनसु मुनि पुंगवको जिनवत्सल कीजे ।
शीलके धारक भव्यके तारक, धानासु निरंतर स्नेह धरिजे ॥
धेनु यथा निज बालककू, अपने जीव छूट न और पता जे ।
ज्ञान कहे भवी लोक सुनी, जिन वत्सल भाव धरे अंग लीजे ॥ १६

(१७) आशीर्वाद ।

सुन्दर षोडस कारण भावन, निर्मल चित्त सुधारके धारे ।
कर्म अनेक हणे अति दुर्धर, जन्म जरा भय मृत्यु निवारे ॥
दुःख दरिद्र विपत्त हरे, भवसागरको पर पार उतारे ।
ज्ञान कहे इह षोडश कारण, कर्म निवारण सिद्धसु ठारे ॥ १७॥

सोलहकारण व्रत कथा।

नमो देव अर्हंत नित, गुरु निर्ग्रन्थ मनाय।
श्री जिनवाणी हृदयधर, कहूं कथा सुखदाय॥

अनन्तानन्त आकाश (अलोकाकाश) के मध्यमें ३४३ घन राजूप्रमाण क्षेत्रफलवाला पुरुषाकार यह लोकाकाश है जो कि तीन

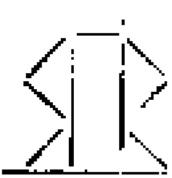

प्रकारके वातवलयों अर्थात् वायु (घनोदधि, घन और तनुवातलय) से घिरा हुआ अपनेही आधार आप स्थिर है। वह लोकाकाश ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक इस प्रकार तीन भागोंमें बंटा हुआ है। और इसके बीचोबीच १४ राजू ऊंची और १ राजू चौडी लम्बी त्रसनाड़ी है, अर्थात् इसके बाहर त्रस जीव-दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय नहीं रहते हैं, परंतु एकेन्द्रिय जीव तो समस्त लोकाकाशमें रहते हैं।

इस त्रसनाड़ीके ऊर्ध्व भागमें सबसे ऊपर तनु-वातवलयके अन्तमें समस्त कर्मोंसे रहित, अनंतदर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यादि अनेक गुणोंके धारी अपनी २ अवगाहनाको लिये हुए श्री सिद्ध भगवान विराजमान हैं, उससे नीचे अहमिन्द्रोंका निवास है, और फिर सोलह स्वर्गोंके देवोंका निवास है। स्वर्गोंसे नीचे मध्य लोक समझा जाता है। इस मध्यलोकके ऊर्ध्व भागमें सूर्य चन्द्रादि ज्योतिषी देवोंका निवास है। (इन्हीके चलने अर्थात् नित्य सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा देनेसे दिन रात और ऋतुओंका भेद होता है)।

फिर नीचेके भागमें पृथ्वीपर मनुष्य तिर्यंच पशु और व्यंतर जातिके देवोंका निवास है। मध्य लोकसे नीचे अधोलोक (पाताल लोक) है। इस पाताल लोकके ऊपरी कुछ भागमें व्यंतर और भवनवासी देव रहते हैं, और शेष भागमें नारकी जीवोंका निवास है।

ऊर्ध्वलोकवासी देव, इन्द्रादि तथा मध्य व पातालवासी चारों प्रकारके देव इन्द्रादि तो अपने पूर्व संचित पुण्यके उदयजनित फलको प्राप्त हुए इन्द्रिय विषयोंमें निमग्न रहते हैं अथवा अपनेसे बड़े ऋद्धिधारी इन्द्र देवादिकी विभूति व ऐश्वर्यको देखकर सहनकर न सकनेके कारण आर्त्तध्यानमें निमग्न रहते हैं और इस प्रकार वे अपनी आयु पूर्ण कर वहांसे चलकर मनुष्य तिर्यंचादि किसी गतिमें स्वकर्मानुसार उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार पातालवासी नारकी जीव भी निरंतर पापके उदयसे परस्पर, मारन ताडन बध बन्धनादि नाना प्रकारके दुखोंको भोगते हुए आर्तरौद्र ध्यानसे आयु पूर्ण करके मरते हैं और वे भी स्वकर्मानुसार मनुष्य व तिर्यंच गतिको प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य—ये दोनों देव तथा नरक गतियां ऐसी हैं कि इनमेंसे बिना आयु पूर्ण हुए तो निकल नहीं सकते हैं, और न वहांसे सीधे मोक्षगतिको प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि इन दोनों गतिके जीवोंका शरीर वैक्रियक है, जो कि अतिशय पुण्य व पापोंके कारण उनको उसका फल सुख किंवा दुःख भोगनेके लिये ही प्राप्त हुआ है। इसलिये इनसे इस पर्यायमें चारित्र धारण नहीं हो सकता है, और चारित्र बिना मोक्ष नहीं होता है इसलिये इन गतिके जीवोंको वहांसे निकलकर मनुष्य वा तिर्यंच गतिमें ही आना पड़ता है।

तिर्यंच गतिमें भी एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइंद्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय जीवोंको तो मनके अभावसे सम्यग्दर्शन ही नहीं हो सकता है और बिना सम्यग्दर्शनके सम्यक्चारित्र नहीं होता तथा, बिना चारित्रके मोक्ष नहीं होता है। रहे सैनी पंचेन्द्रिय जीव, सो इनको अप्रत्याख्याना-वरण कषायके उपशम होनेसे एकदेश व्रत हो सकता हैं, परंतु पूर्ण नहीं तब मनुष्य गति ही एक ऐसी गति ठहरी, कि जिसमें यह जीव सम्यक्त्व सहित पूर्ण चारित्रको धारण करके मोक्ष सुखोंको प्राप्त कर सकता है। मनुष्योंका निवास मध्य लोक हीमें है । इसलिये मनुष्य क्षेत्रका कुछ संक्षिप्त परिचय देकर इस कथाका प्रारम्भ करेंगे ।

लोकाकाशके मध्यमें १ राजु चौड़ा और ७ राजू लम्बा मध्य लोक हैं, जिसमें त्रस जीवोंका निवास १ राजू लम्बे और १ राजू चौड़े क्षेत्र हीमें है (मध्यलोकका आकार) इस १ राजू मध्य लोकके क्षेत्रमें जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि अनेक द्वीपसमुद्र चूड़ीके आकार एक दूसरेको घेरे हुए हैं ।

इन असंख्यात द्वीप समुद्रोके मध्यमें जम्बूद्वीप थालीके आकार ◯ गोल है। इसके आसपास लवणसमुद्र, फिर धातकी खंड द्वीप, फिर कालोदधि समुद्र, फिर पुष्कर द्वीप है। यह पुष्कर द्वीप बीचोबीच एक पर्वतसे जिसे मानुषोत्तर पर्वत कहते है क्योंकि मनुष्य उसके पार नहीं जा सकता है, दो भागोमें बटा हुआ है। इस प्रकार जम्बू, धातकी और पुष्कर आधा (ढाईद्वीप) और लवण तथा कालोदधि ये दो समुद्र मिलकर मनुष्यलोक कहलाता है, और इतने ही क्षेत्रसे रत्नत्रयको धारण करके मोक्ष प्राप्त कर सकता हैं।

इसने क्षेत्रका क्षेत्रफल दो हजार कोषके योजनके हिसाबसे ४५ लाख योजन है। जीव कर्मके मुक्त होनेपर अपनी स्वाभाविक गतिके अनुसार ऊर्ध्वगमन करते हैं। इसलिये जितने क्षेत्रके जीव मोक्ष प्राप्त करके ऊर्ध्वगमन करके लोक-शिखरके अन्तमें जाकर धर्म द्रव्यका आगे अभाव होनेके कारण ठहर जाते हैं, उतने क्षेत्रको (लोकके अन्तवाले क्षेत्रको) सिद्धशिला व सिद्धक्षेत्र कहते हैं। इस प्रकार सिद्धक्षेत्र भी पैतालीस लाख योजनहीका ठहरा।

इस ढाईद्वीपमें पंचमेरु और तत्सम्बन्धी विदेह क्षेत्र तथा पांच भारत और पांच ऐरावत क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रोंमेंसे जीव रत्नत्रय द्वारा कर्मनाश कर सकता है। इसके सिवाय और कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जहां भोगभूमि (जुगलिया) की रीति प्रचलित है अर्थात् वहांके जीव मनुष्यादि अपनी संपूर्ण आयु विषयभोगोंहीमें बिता दिया करते हैं। उनकी बड़ी बड़ी आयु होती हैं, आहार कम होता है, उनमें सब-समान राजा प्रजाके भेद रहित होते हैं। उनको सब प्रकारकी भोगसामग्री कल्पवृक्षों द्वारा प्राप्त होती है।

इसलिये वे व्यापार धंदा आदिकी झंझटसे बचे रहते हैं। इस प्रकार वे (वहांके जीव) आयु पूर्ण कर मंद कषायोंके कारण देवगतिको प्राप्त होते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके आर्य खण्डोंमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी (कल्प कालके) छः काल सुखमा सुखमा, सुखमा सुखमा, दुखमा, दुखमा सुखमा, दुखमा, और दुखमा दुखमाकी प्रवृत्ति होती हैं इनमें भी प्रथमके तीन कालोंमें तो भोगभूमिका ही रीति प्रचलित रहती हैं, और तीन काल कर्मभूमिके होते हैं, इसलिये इन शेष कालोंमें चौथा दुखमा सुखमा काल है जिसमें त्रेसठ शलाका आदि महापुरुष उत्पन्न होते हैं। पांचवें और छठवे कालमें क्रमसे आयु, काय, बल, वीर्य घटता,

जाता है और इन कालोंमें कोई भी जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। विदेह क्षेत्रमें ऐसी कालचक्रकी फिरन नहीं होती है। वहां सदैव ही तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं और मोक्षमार्गका उपदेश व साधन रहनेसे जीव मोक्ष प्राप्त करते रहते हैं। जिन क्षेत्रोंमें रहकर जीव आत्मधर्मको प्राप्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है अथवा जिनमें मनुष्य असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प व विद्यादि द्वारा आजीविका करके जीवन निर्वाह करते हैं वे क्षेत्र कर्मभूमि कहलाते हैं।

जम्बूद्वीप (जोकि सब द्वीपोंमें है) में बीचोंबीच सुदर्शन मेरु नामका स्तंभाकार एक लाख योजन ऊंचा पर्वत है। इस पर्वत पर सोलह अकृत्रिम जिनमंदिर हैं। यह वही पर्वत है कि जिसपर भगवानका जन्माभिषेक इन्द्रादि देवों द्वारा किया जाता है। इसके सिवाय ६ पर्वत और भी दण्डाकार (भीतके समान) इस द्वीपमें हैं। जिनके कारण यह द्वीप सात द्वीपोंमें बट गया है। ये पर्वत सुदर्शनमेरुके उत्तर और दक्षिण दिशामें आड़े पूर्वसे पश्चिम तक समुद्रमें मिले हुये हैं। दक्षिणकी ओरसे सबसे अंतके क्षेत्रको भरतक्षेत्र कहते हैं। इस भरत क्षेत्रमें भी बीचमें विजयार्द्ध पर्वत पड़ जानेसे भरतक्षेत्र दो भागोंमें बट जाता है और उत्तरकी ओर जो हिमवत पर्वत पर पद्महृद है, उससे गंगा और सिंधु दो महानदियां निकलकर विजयार्द्ध पर्वतको भेदती हुई पूर्व और पश्चिमसे बहती हुई दक्षिण समुद्रमें मिलती है। इससे भरतक्षेत्रके छः खंड हो जाते है, इन छः खंडोंमेंसे सबसे दक्षिणका बीचवाला खंड आर्य खंड कहलाता है। और शेष ५ म्लेच्छ खंड कहलाते है। इसी आर्य खंडमें तीर्थंकरादि महापुरुष उत्पन्न होते हैं। यही आर्य खंड कहलाता है।

इसी आर्य खंडमें मगध नामका एक देश है, जिसे आज-कल बिहार प्रांत कहते हैं।

इस मगधप्रदेशमें राजगृही नामकी एक बहुत मनोहर नगरी है, और इस नगरीके समीप विपुलाचल, उदयाचल आदि पंच पहाड़ियां है। तथा पहाड़ियोंके नीचे कितनेक उष्ण जलके कुंड बने हैं। इन पहाडियों व झरनोंके कारण नगरकी शोभा विशेष बढ़ गई है। यद्यपि कालदोषसे अब यह नगर उजाड़ होरहा है परन्तु उसके आसपासके चिह्न देखनेसे प्रकट होता हैं कि किसी समय यह नगर अवश्य ही बहुत उन्नत होगा।

अंतिम (चौवीसवें) श्रीवर्द्धमानस्वामीके समयमें इस नगरमें राजा श्रेणिक राज्य करता था। यह राजा बड़ा न्यायी और प्रजापालक था। यह अपनी कुमार-अवस्थामें पूर्वोपार्जित कर्मके उदयसे अपने पिता द्वारा देशसे निकाला गया था, सो भ्रमण करते हुए एक बौद्ध साधुके उपदेशसे बौद्धमतको स्वीकार कर चुका था। और बहुतकाल तक यह बौद्ध मतावलम्बी ही रहा। जब श्रेणिककुमार निज बाहु तथा बुद्धिबलसे विदेशोंमें भ्रमण करके बहुत विभूति व ऐश्वर्य सहित स्वदेशको लौटा, तो वहांके निवासियोंने इन्हें अपना राजा बनाना स्वीकार किया। इस समय इनके पिता उपश्रेणिक राजाका स्वर्गवास हो चुका था, और इनके एक भाई चिलातिक नामके अपने पिता द्वारा प्रदत्त राज्य करते थे; इनके राज्यकार्यमें अनभिज्ञ होने तथा प्रजा पर अत्याचार करनेके कारण प्रजा इनसे अप्रसन्न हो गई थी। इसीसे सब प्रजाने मिलकर इन्हें राज्य-च्युत कर दिया। ठीक है राजा प्रजा पर अत्याचार नहीं कर सकता है, वह एक प्रकारसे प्रजाका नौकर ही है। क्योंकि प्रजाके द्वारा ही राजाको द्रव्य मिलता है, उसकी आजीविका

प्रजाके आश्रित है, इसलिये वह प्रजा पर नीतिपूर्वक शासन कर सकता है। उसका कर्तव्य है कि वह प्रजाकी भलाईके लिये सतत प्रयत्न करे, उसकी यथासाध्य रक्षा व उन्नतिका उपाय करे, तभी वह राजा कहलानेके योग्य हो सकता है, और प्रजा भी उसकी आज्ञाकारिणी हो सकती है। राजा और प्रजाका संबंध पिता और पुत्रके समान होता है, इसलिये जब राजाकी ओरसे अन्याय व अत्याचार बढ़ जाते हैं, तब प्रजा अपना नया राजा चुन लिया करती है, और अत्याचारी अन्यायी राजाको राज्यच्युत करके निकाल देती है। इसी नियमानुसार राजगृहीकी प्रजाने अन्यायी चिलातक नामक राजाको निकाल कर श्रेणीकको अपना राजा बनाया, और इस प्रकार श्रेणिक महाराज नीतिपूर्वक पुत्रवत् प्रजाका पालन करने लगे।

पश्चात् इनका एक और ब्याह राजा चेटककी कन्या चेलना कुमारीसे हुआ। चेलना रानी जैनधर्मानुयायी थी, और राजा श्रेणिक बौद्धमतानुयायी थे। इस प्रकार यह केरबेर (केला और बेरी) का साथ बना था कि इनमें निरन्तर धार्मिक विवाद हुआ करता था। दोनों पक्षवाले अपने अपने पक्षके मंडनार्थ प्रबल प्रबल युक्तियां दिया करते थे। परन्तु "सत्यमेव जयते सर्वदा" की उक्तिके अनुसार अन्तमें रानी चेलना ही की विजय हुई अर्थात् राजा श्रेणिकने हार मानकर जैनधर्म स्वीकार कर लिया और उसकी श्रद्धा जैनधर्ममें अत्यन्त दृढ़ हो गई इतना ही नहीं किन्तु वह जैन धर्म देव या गुरुओंका परम भक्त बन गया और निरन्तर जैनधर्मकी उन्नतिमें सतत प्रयत्न करने लगा।

एक दिन इसी राजगृही नगरके समीप उद्यान वनमें विपुलाचल पर्वतपर श्रीमद्देवाधिदेव परम भट्टारक श्री १००८ वर्द्धमानस्वामीका समवसरण आया, जिसके अतिशयसे वहांके वन उपवनोंमें छहों ऋतुओंके फल फूल एक ही साथ फल और फूल गये, तथा नदी सरोवर आदि जलाशय जलपूर्ण हो गये, वनचर व जलचर आदि जीव सानन्द अपने अपने स्थानोंमें स्वतंत्र निर्भय होकर विचरने और क्रीड़ा करने लगे। दूर दूर तक रोग मरी व अकाल आदिका नाम भी न रहा, इत्यादि अनेकों अतिशय होने लगे, तब वनमाली फल और फूलोंकी डाली लेकर यह आनन्ददायक समाचार राजाके पास सुनानेके लिये गया और विनययुक्त भेट करके सब समाचार कह सुनाये।

राजा श्रेणिक यह सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और अपने सिंहासनसे तुरत ही उतर कर विपुलाचलकी ओर मुंह करके परोक्ष नमस्कार किया। पश्चात् वनपालको यथेच्छ पारितोषिक दिया और यह शुभ संवाद सब नगर भरमें फैला दिया, अर्थात् यह घोषणा करा दी कि महावीर भगवानका समवसरण विपुलाचल पर्वतपर आया है, इसलिये सब नरनारी वंदनाके लिये चलो और राजा स्वयम् भी अपनी विभूति सहित हर्षित मन होकर वंदनाके लिये गया।

जाते २ मानस्तंभपर दृष्टि पड़ते ही राजा हाथीसे उतरकर पांव प्यादे समवसरणमें रानी आदि स्वजन पुरजनों सहित पहुंचा और सब ठौर यथायोग्य वंदना स्तुति करता हुआ गंधकुटीके निकट उपस्थित हुआ और भक्तिसे नम्रभूत हो स्तुति करके मनुष्योंकी सभामें जाकर बैठ गया और सब लोग भी यथायोग्य स्थानमें बैठ गये।

तब मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) जीवोंके कल्याणार्थ श्री जिनेंद्र देवके द्वारा मेघोंकी गर्जनाके समान ॐकार रूप अनक्षरी वाणी (दिव्य ध्वनी) हुई । यद्यपि इस वाणीको सर्व उपस्थित सभाजन अपनी २ भाषामें यथासंभव निज ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम अनुसार समझ लेते है तथापि गणधर (गणेश) जो कि मुनिकी सभामें श्रेष्ठ चार ज्ञानके धारी हैं, उक्त वाणीको द्वादशांगरूप कथन कर भव्य जीवोंको भेदा भेद सहित समझाते हैं सो उस समय श्री महावीरस्वामीके समवसरणमें उपस्थित गणनायक श्री गौतमस्वामीने प्रभुकी वाणीको सुनकर सभा-जनोंको सात तत्व, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय इत्यादि स्वरूप समझाकर रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) रूप मोक्षमार्गका कथन किया और सागार (गृहस्थ) तथा अनगार (साधु-गृहत्यागी) धर्मका उपदेश दिया, जिसे सुनकर निकट भव्य (जिनकी संसार-स्थिति थोड़ी रह गई है) अर्थात् मोक्ष होना निकट रह गया है) जीवोंने यथाशक्ति मुनि अथवा श्रावकके व्रत धारण किये, तथा जो शक्तिहीन जीव थे और जिनको दर्शनमोहका उपशम व क्षय हुआ था । उन्होंने सम्यक्त्व ही ग्रहण किया ।

इस प्रकार जब वे भगवान धर्मका स्वरूप कथन कर चुके, तब उस सभामें उपस्थित परम श्रद्धालु भक्तराज श्रेणिकने विनययुक्त नम्रीभूत हो श्री गौतमस्वामी (गणधर) से प्रश्न किया कि " हे प्रभु ! षोड़श कारण व्रतकी विधि किस प्रकार है, और इस व्रतको किसने पालन किया तथा क्या फल पाया ? सो कृपाकर कहो, ताकि हीन शक्तिधारी जीव भी यथाशक्ति अपना कल्याण कर सकें, और जिन धर्मकी प्रभावना होवे ।

यह सुनकर श्री गौतमस्वामी बोले—राजा तुम्हारा यह प्रश्न समयोचित और उत्तम है इसलिये ध्यान लगाकर सुनो। इस व्रतकी कथा व विधि इस प्रकार है—

षोडश कारण भावना, जो भाई चित धार।
कर तिन पदकी वंदना, कहूं कथा सुखकार ॥ १ ॥

जम्बूद्वीपमें भरतक्षेत्रके मगध (बिहार) प्रान्तमें राजगृही नगर है। वहांका राजा हेमप्रभ और रानी विजयावती थी। इस राजाके यहां महाशर्मा नामका नौकर था और उसकी स्त्रीका नाम प्रियंवदा था। इस प्रियंवदाके गर्भसे कालभैरवी नामकी अत्यन्त कुरूपा कन्या उत्पन्न हुई जिसे देखकर मातापितादि सभी जनोंको घृणा होती थी।

फिर एक दिन मतिसागर नामके चारणमुनि आकाशमार्गसे गमन करते हुए इस नगरमें पधारे तो वह महाशर्मा अत्यन्त भक्ति सहित श्री मुनिको पड़गाहकर विधिपूर्वक आहार देकर, मुनीराज द्वारा धर्मोपदेश सुनने लगा पश्चात् जुगल कर जोड़कर विनययुक्त हो पूछा—हे नाथ! यह मेरी कालभैरवी नामकी कन्या किस कर्मके उदयसे ऐसी कुरूपा और कुलक्षणी उत्पन्न हुई है, कृपा कर कहिये। तब श्री मुनिराज (अवधिज्ञानके धारी) कहने लगे, वत्स! सुनो—

उज्जैनी नगरीमें महीपाल नामका राजा और उसकी वेगावती नामकी रानी थी। इस रानीसे विशालाक्षी नामकी एक कन्या थी। यह कन्या बहुत रूपवान होनेके कारण बहुत अभिमानिनी हुई और इसी रूपके मदमें उसने एक भी सद्‌गुण न सीखा। यथार्थ है, अहंकारी (मानी) को विद्या नहीं आती है।

एक दिन वह कन्या अपनी चित्रसारीमें बैठी हुई दर्पणमें अपना मुख देख रही थी कि; इतनेमें ज्ञानसूर्य महातपस्वी श्रीमुनिराज उसके घरसे आहार लेकर निकले सो इस अज्ञान रूपके मदमें मस्त कन्याने मुनिको देखकर खिड़कीसे मुनिके ऊपर थूंक दिया और थूंक कर बहुत हर्षित हुई ।

पृथ्वी समान क्षमावान श्री मुनिराज अपनी नीची दृष्टि किये हुए चले ही जा रहे थे कि, राजपुरोहित इस कन्याका उमत्तपना देखकर उसपर बहुत क्रोधित हुआ तथा उसे धमकाया और तुरन्त ही प्रासुक जलसे श्रीमुनिराजका शरीर प्रक्षालित किया, और बहुत भक्तिसे वैयावृत्य कर स्तुति की। यह देखकर वह कन्या बहुत लज्जित हुई और अपने किये हुए नीच कृत्यपर पछताकर श्री मुनिके पास जाकर उसने नमस्कार किया और अपने अपराधकी क्षमा मांगी । फिर वह कन्या वहांसे मरकर तेरे घर यह कालभैरवी नामकी कन्या हुई है ।

इसने जो पूर्व जन्ममें मुनिकी निंदा व उपसर्ग रूप घोर पाप किया है, उसीके फलसे ऐसी कुरूपा हुई है। पूर्व संचित कर्मोंका फल भोग बिना छुटकारा नहीं होता है। इसलिये अब इसे समभावोंसे भोगना ही कर्तव्य है और आगेको ऐसे कर्म न बन्धे ऐसा उपाय करना योग्य है। तब पुनः यह महाशर्मा बोला- हे प्रभू ! कृपाकर कोई ऐसा उपाय बताइये कि जिससे यह कन्या इस दुःखसे छूटकर सम्यक् सुखोंको प्राप्त हो । तब श्री मुनिराज बोले-वत्स सुनो—

संसारमें ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो मनुष्योंके लिये असाध्य हो, अर्थात् वह न कर सके । यह कितनासा दुःख है

जिन धर्मके सेवनसे अनादिसे लगे हुए जन्म मरणादि दु:ख भी छूट-कर सच्चे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है तब और दुखोंकी क्या बात है वे तो सहज हीमें छूट जाते हैं। इसलिये यदि यह कन्या षोडश-कारण भावना भावे और व्रत पाले तो [illegible] [illegible] मोक्षसुखको पावेगी। तब महाशर्मा बोला--हे स्वामी! इस व्रतकी कौनसी भावना है और क्या विधि है? सो कृपाकर कहिये। तब मुनिमहाराजने इन जिज्ञासुओंको निम्न प्रकार व्रतका स्वरूप और विधि बताई। वे बोले:—

(१) संसारमें जीवका वैरी मिथ्यात्व और हितू सम्यक्त्व है। इसलिये मनुष्योंका कर्तव्य है कि सबसे प्रथम मिथ्यात्व (अतत्व श्रद्धान या उल्टा--विपरीत श्रद्धान) को वमन (त्याग) करके सम्यक्त्वरूपी अमृतका पान करें; सत्यार्थ (जिन) देव, सच्चे (निर्ग्रन्थ) गुरु और सच्चे (जिन भाषित) धर्मपर श्रद्धा (विश्वास) लावे। तत्पश्चात् सप्त तत्व तथा पुण्य पापका स्वरूप जानकर इनकी श्रद्धा करके अपनी आत्माको पर पदार्थोंसे भिन्न अनुभव करे और अन्य मिथ्यात्वी देव गुरु व धर्मको दूर हीसे इस प्रकार छोड़ दे जैसे तोता अवसर पाकर पिंजरेसे निकल भागता है। ऐसे सम्यक्त्वी पुरुषके प्रशम (समभाव-सुख व दु:खमें एकसा समुद्र सरीखा गम्भीर रहना, घबराना नहीं), संवेग (धर्मानुराग सांसारिक विषयोंसे विरक्त हो धर्म और धर्मायतनोंमें प्रेम बढ़ाना), अनुकम्पा (करुणा दु:खी जीवोंपर दया भाव करके उनको यथाशक्ति सहायता करना) और आस्तिक्य (श्रद्धा—कैसा भी अवसर क्यों न आवे तो भी निर्णय किए हुए अपने सन्मार्गमें दृढ़ रहना, ये चार गुण प्रगट होजाते हैं उन्हें किसी प्रकारका भय व चिंता व्याकुल नहीं कर सकती हैं। वे धीर वीर सदा प्रसन्न-चित्तही रहते हैं,

कभी किसी चीजकी उन्हे प्रबल इच्छा नहीं होती, चाहे वे किसी कर्मसे उदयसे व्रत न भी कर सकें तो व्रतोंमें उनकी श्रद्धा व सहानुभूति रहती है। यही मोक्षमार्गकी प्रथम सोपान (सीढ़ी) है। इसलिये इसे ही २५ मल–दोषोंसे रहित और अष्ट अंग सहित धारण करें, इसके बिना ज्ञान और चारित्र सब निष्फल (मिथ्या) हैं, यही "दर्शनविशुद्धि" नामकी प्रथम भावना है।

(२) जीव (मनुष्य) संसारमें जो सबकी दृष्टिसे उतर जाता है उसका कारण केवल अहंकार (मान) है, भले ही वह मानी अपनी समझमें अपने आपको बड़ा माने, परन्तु क्या कौआ मंदिरके शिखरपर बैठ जानेसे गरुड़पक्षी हो सकता है? कभी नहीं।कभी नहीं। सबही प्राणी उससे घृणा करते हैं। कदाचित् उसके पूर्व पुण्योदयसे उसके कोई कुछ न कह सके, तो भी क्या वह किसीके मन को बदल सकता है? जो उपरको देखकर चलता है वह अवश्य ही नीचे गिरता है। ऐसे मानी पुरुषको कोई विद्या सिध्द नहीं होती है, क्योंकि वह विद्या विनयसे आती है। मानी पुरुष सदा चित्तमें खेदित रहता है क्योंकि वह सदा सबसे सन्मान कराना चाहता है, जो कि होना असम्भव है। इसलिये निरंतर अपनेसे बड़ोंमें सदा चित्तमें सदा विनयपूर्वक वर्ताव करना चाहिये, समान (बराबरीवालों) पुरुषोंमें प्रेम और छोटोंमें करुणाभावसे प्रवर्तना चाहिये, और सदैव अपने दोषोंको स्वीकार करनेमें सावधान रहना चाहिये, क्योंकि जो मानी अपने दोष नहीं स्वीकार करता है उसके दोष बढ़ते ही जाते है वह कभी उनसे मुक्त नहीं हो सकता है। इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार इन पांचों प्रकारकी विनयोंका स्वरूप विचारकर विनयपूर्वक प्रवर्तन करना

सो " विनय सम्पन्नता " नामकी भावना है ।

(३) बिना मर्यादाके मन वश नहीं होता है, जैसे कि बिना लगाम (बाग--रास) घोड़ा और बिना अंकुशके हाथी । इस लिये आवश्यक है कि मन व इन्द्रियोंके वश करनेके लिये कुछ मर्यादारूपी अंकुश रखना चाहिये । इसलिये अहिंसा (किसी भी जीवको न सताना न मारना), सत्य (यथार्थ वचन बोलना, परन्तु किसीको पीड़ाजनक न हो), अचौर्य (बिना दिये हुए पर वस्तुका ग्रहण न करना), ब्रह्मचर्य (स्त्री मात्रका अथवा स्वदार बिना अन्य स्त्रियोंके साथ विषय--मैथुन सेवनका त्याग,) और परिग्रह त्याग या परिग्रह परिमाण (संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग या अपनी योग्यता या शक्ति अनुसार आवश्यक वस्तुओंका प्रमाण करके अन्य समस्त पदार्थोंसे ममत्व त्याग करना, इसे लोभको रोकना भी कहते हैं), इस प्रकार ये पांच व्रत और इनकी रक्षार्थ सप्तशीलों (३ गुणव्रतों और ४ शिक्षाव्रतों) का भी पालन करें तथा उक्त पांचों व्रतोंके अतीचार (दोष) भी बचावें इन व्रतोंके निर्दोष पालन करनेसे न तो राज्यदंड होता है और न पंचदण्ड । ऐसा व्रती पुरुष अपने सदाचारसे सबका आदर्श बन जाता है । इसके विरुद्ध सदाचारी जनोंको इस भवमें और पर भवमें भी अनेक प्रकार दंड व दुःख सहने पड़ते है, ऐसा विचार करके इन व्रतोंमें दृढ़ होना चाहिए । यह " शीलव्रतेष्वनतिचार " भावना है ।

(४) हिताहितका स्वरूप बिना जाने जीव सदैव अपने लिये सुखप्राप्तिकी इच्छासे विपरीत मार्ग ग्रहण कर लेता है । जिससे सुख मिलना तो दूर होजाता है और दुःखका सामना करना पड़ता है । ऐसी अवस्थामे ज्ञान सम्पादन करना

आवश्यक है। क्योंकि जहां चर्म-चक्षु नहीं देख सकते हैं वहां ज्ञान-चक्षु ही काम देते हैं। ज्ञानी पुरुष नेत्रहीन होनेपर भी अज्ञानी आंखवालेसे अच्छा है। अज्ञानी न तो लौकिक कार्यों-होमें सफल--मनोरथ होता है और न पारलौकिक ही कुछ साधन कर सकता है। वह ठौर ठौर ठगाया जाता है और अपमानित होता है। इसलिये ज्ञान उपार्जन करना आवश्यक है इत्यादि। विचार करके विद्याभ्यास करना, व कराना सो "अभीक्ष्णज्ञानोपयोग" नामकी भावना है।

(५) इस जीवके विषयानुरागता इतनी बड़ी हुई है कि यदि तीन लोककी समस्त सम्पत्ति इसे भोगनेको मिल जाए तो भी तृप्ति न हो, तृप्ति तो क्या इसकी विषयाभिलाषाका असंख्यातवां अंश भी पूरा न हो और जीव संसारमें अनन्ता-नन्त हैं, लोकके पदार्थ भी जितने हैं उतने ही हैं और सभी जीवोंकी अभिलाषा ऐसी ही बड़ी हुई है, तब यह लोककी सामग्री किस किसकी किस अंशमें तृप्त कर सकती है? किसीको नहीं। ऐसा विचार कर उत्तम पुरुष अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर मनको धर्मध्यानमें लगा देते हैं। इसीको "संवेग" भावना कहते हैं।

(६) जबतक मनुष्य किसी भी पदार्थमें ममत्व भाव रखता है, अर्थात् यह मेरी है इत्यादि भाव रखता है, तबतक वह कभी सुखी नहीं हो सकता है; क्योंकि पदार्थोंका स्वभाव नाशवान है; जो उत्पन्न हुए सो नियमसे नाश होंगे, जो मिले हैं सो बिछुड़ेंगे, इसलिये जो कोई इन पदार्थोंको (जो उसे पूर्व पुण्योदयसे प्राप्त हुए है) अपने आप ही छोड़ देवें ताकि वे (पदार्थ) उसे न छोड़ने पावें तो निःसंदेह दुःख आनेका

अवसर ही न रहेगा। इस प्रकार विचार कर जो आहार, औषध, शास्त्र (विद्या) और अभय, इन चार प्रकारके दानोंको देता हैं तथा अन्य आवश्यक कार्योंमें धर्म--प्रभावना व परोपकारमें द्रव्य खर्च करता है उसे ही ' शक्तितस्त्याग " नामकी भावना कहते हैं।

(७) यह जीव स्वस्वरूपको भूला हुआ इस घृणित देहमें ममत्व करके इसके पोषणार्थ नाना प्रकारके पाप करता है तो भी यह शरीर स्थिर नहीं रहता है। दिनोंदिन सेवा करते २ और सम्हालते २ क्षीण हो जाता है और एक दिन आयुकी स्थिति पूर्ण होते ही छोड़ देता है। सो ऐसे नाशवंत घृणित शरीरमें (राग) न करके वास्तविक सच्चे सुखकी प्राप्तिके अर्थ इसको लगाना चाहिये ताकि इसका जो जीवके साथ अनन्तानन्त बार संयोग तथा वियोग हुआ हैं, सो फिर इससे ऐसा वियोग-- हो कि फिर कभी भी संयोग न हो-- मोक्ष प्राप्त हो जावे। इसमें यही सार है क्योंकि स्वर्ग नक या पशु पर्यायमें तो तपश्चरण पूर्ण हो ही नहीं सकता है, इसलिये यही श्रेष्ठ अवसर है. ऐसा समझकर अनशन ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विवक्त शय्याशन और कायक्लेश ये छः बाह्य और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये आभ्यंतर इस प्रकार बारह तपोंमें प्रवृत्ति करता है, सो सातवीं "शक्तितस्तप" नामकी भावना कहाती है।

(८) धर्मकी प्रवृत्ति धर्मात्माओंसे होती है और धर्म साधुजनोंके आधार है, इसलिये साधुवर्गमें आये हुये उपसर्गोंको यथासंभव दूर करना यह "साधुसमाधि" नामकी भावना है।

(९) शरीरमें किसी प्रकारकी रोगादिक बाधा आ जानेसे परिणामोंमें शिथिलता व प्रमाद आ जाना संभव है। इसलिये साधर्मी साधु व (गृहस्थ) जनोंकी सेवा उपचार करना कर्तव्य है। इसे "वैयावृत्यकरण" भावना कहते हैं।

(१०) अर्हन्त भगवानके द्वारा ही मोक्षमार्गका उपदेश मिलता है। क्योंकि वे प्रभु केवल कहते ही नहीं है किन्तु स्वयं मोक्षके सन्निकट पहुंच गये है। इसलिये उनके गुणोंमें अनुराग करना, उनकी भक्तिपूर्वक पूजन करना सो "अर्हद्भक्ति" भावना है।

(११) बिना गुरुके सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है और सच्चे उपदेशक, निरपेक्ष हितैषी, आचार्य महाराजके गुणोंकी सराहना व उनमें अनुराग करना सो "आचार्यभक्ति" नाम भावना है।

(१२) अल्पज्ञ पुरुषके द्वारा सच्चे उपदेशकी प्राप्ति होना दुर्लभ है, इसलिये समस्त द्वादशांगके पारगामी श्री उपाध्याय महाराजकी भक्ति करना, उनके गुणोंमें अनुराग करना सो "बहुश्रुतभक्ति" नाम भावना है।

(१३) सदा समान भावसे वस्तुस्वरूपको बतलानेवाले जिन शास्त्रोंका पठनपाठनादि अभ्यास करना, सो 'प्रवचनभक्ति' नाम भावना है।

(१४) मन वचन कायकी शुभाशुभ क्रियाओंको योग कहते है। इन ही योगोंके द्वारा शुभाशुभ कर्मोंका आश्रव होता है। इसलिये यदि आश्रवके द्वारा ये योग रोक दिये जाय, तो संवर (कर्माश्रव बंद) हो सकता है और संवर करनेका उत्तमोत्तम

उपाय सामायिक आदि आवश्यक है, इसलिये इन्हें नित्यप्रति पालन करना चाहिये। एकासनसे बैठकर अथवा खड़े होकर मन, वचन कायको समस्त व्यापारोंसे रोक कर एकाग्रचित्त करना सो समभावरूप सामायिक है। अपने किये हुए दोषोंको स्मरण कर उनपर पश्चाताप करना सो प्रतिक्रमण है। आगेके लिए यथाशक्ति दोष न होने देनेके लिये नियम करना (दोषोंका त्याग करना) सो प्रत्याख्यान है। तीर्थंकरादि अर्हंत व सिद्धोंके गुण कितन करना सो स्तवन है। मन वचन काय शुद्ध करके चार दिशाओंमें चार शिरोनति और प्रत्येक दिशामें तीन तीन आवर्त ऐसे बारह आवर्त करके नमस्कार करना सो वंदना ५ है और किसी समयका विशेष प्रमाणकरके उतने समय तक एकासनसे स्थिर रहना तथा उतने समयके भीतर आए हुए समस्त उपसर्ग व परिषहोंको सहन करना सो कायोत्सर्ग है। इस प्रकार विचार कर इन छहों आवश्यकोंमें जो सावधान होकर प्रवर्तन करता है सो "आवश्यका परिहाणी" नामकी भावना है।

(१५) कालदोषसे अथवा उपदेशके अभावसे सांसारिक जीवोंके द्वारा सत्य धर्मपर अनेक आक्षेप होनेके कारण उसका लोपसा हो जाता है। धर्मके लोप होनेसे जीव धर्मरहित होकर संसारमें नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं। इसलिये ऐसे २ समयोंमें येन केन प्रकारेण समस्त जीवोंपर सत्य (जिन) धर्मका प्रभाव प्रगट कर देना सो ही प्रभावना है, और यह प्रभावना जिन धर्मके उपदेशोंके प्रचार करने, शास्त्रोंके प्रकाशन व

प्रचारणसे शास्त्रोंके अध्ययन व अध्ययनसे, विद्वानोंकी सभायें करानेसे, अपने सदाचरणके कारणसे, लोकोपकारी कार्य करनेसे, दान देनेसे, संघ निकालने व विद्यामन्दिरोंकी स्थापना व प्रतिष्ठादि करनेसे सत्य व्यवहारसे संयम नियम व तपादिक करनेसे होती है। ऐसा समझकर यथाशक्ति प्रभावनोत्पादक कार्योंमें प्रवर्तना सो " मार्ग प्रभावना " नाम भावना है।

(१६) संसारमें रहते हुए जीवोंको परस्परकी सहायता व उपकारकी आवश्यकता रहती है ऐसी अवस्थामें यदि निष्कपट भावसे अथवा प्रेमपूर्वक सहायता न की तो परस्पर यथार्थ लाभ पहुंचना दुर्लभ ही है, इतना ही नहीं किन्तु परस्परके विरोधसे अनेकानेक हानियां होती रहती हैं और हो भी रही हैं। इसलिये यह परमावश्यक कर्तव्य हैं कि प्राणी परस्पर (गायका अपने बछड़े पर जैसा निष्कपट और गाढ़ प्रेम होता है वैसा ही) प्रेम करे। विशेष कर साधर्मियोंके संग तो कृत्रिम प्रेम न करें ऐसा विचार कर जो अपना निष्कपट व्यवहार साधर्मियों तथा प्राणी मात्रसे रखते हैं। " प्रवचन वात्सल्य " भावना कहते हैं।

इन भावनाओंको अन्तःकरणसे चिंतन करने तथा तदनुसार प्रवर्तन करनेका फल तीर्थंकर नाम कर्मके आश्रवका कारण हैं। इस प्रकार भावनाओंका स्वरूप कहकर अब व्रतकी विधि कहते हैं.–

भादों, माघ और चैत्र (गुजराथी, श्रावण, पौष और फाल्गुन वदी १ से भादों, माघ, चैत्र सुदी १ तक) मासमें (एक वर्षमें तीन बार) पूरे एक मास तक व्रत करना चाहिये। इन दिनोंमें तेला बेला आदि उपवास करे अथवा नीरस, एक रस, ऊनोदर

आदि एकभुक्त करे, अञ्जन, मञ्जन, अलंकार विशेष धारण न करे शीलव्रत (ब्रह्मचर्य) रक्खे, नित्य षोडषकारण भावना भावे और यंत्र बनाकर पूजाभिषेक करे, त्रिकाल सामायिक करे और ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधु-समाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हंतभक्ति आचार्यभक्ति, उपाध्यायभक्ति प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना, प्रवचन-वात्सल्यादि षोडशकारणेभ्यो नमः) इस महामंत्रका दिनमें तीन बार १०८ एकसो आठ जाप करें । इस प्रकार इस व्रतको उत्कृष्ट सोलह वर्ष, मध्यम ५ अथवा दो वर्ष और जघन्य १ वर्ष करके यथाशक्ति उद्यापन करें अर्थात् सोलह उपकरण मंदिरमें भेट दे और शास्त्रदान करें, विद्यादान करें, शास्त्रभंडार खोले, सरस्वती मंदिर बनावें, उपदेश करावें इत्यादि यदि द्रव्य खर्च करनेकी शक्ति न हो तो द्विगुणित व्रत करें ।

इस प्रकार ऋषिराजके मुखसे व्रतकी विधि सुनकर कालभैरवी नामकी उस ब्राह्मण कन्याने षोडशकारणव्रत उत्कृष्ट-रीतिसे पालन किया, तथा भावना भाई और उद्यापन किया । पीछे समाधिमरण कर स्त्रीलिंग छेदकर सोलहवें (अच्युत) स्वर्गमें देव हुई वहांसे बाईस सागर आयुपूर्ण कर वह देव, जम्बू-द्वीपके विदेह क्षेत्रसम्बंधी अमरावती देशके गंधर्व नगरमें राजा श्रीमंदिरकी रानी महादेवी सीमंधर नामक तीर्थंकर पुत्र हुआ । सो योग्य अवस्थाको प्राप्त होकर राज्योचित सुख भोग जिनेश्वर दीक्षा ली और घोर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त करके बहुत जीवोंको धर्मोपदेश दिया तथा आयुके अन्तमें समस्त अघाति कर्मोंका भी नाश कर निर्वाणपद प्राप्त किया ।

इस प्रकार इस व्रतको धारण करनेसे कालभैरवी नामकी ब्राह्मण कन्याने सुरनरके सुख भोगकर मोक्ष सुख प्राप्त किया तो अन्य जीव इस व्रतको पालन करें तो अवश्य ही उत्तम फलकी प्राप्ति होवेगी ।

षोडश कारण व्रत धरो, कालभैरवी सार ।
सुरनरके सुख "दीप" लह, लहो मोक्ष अधिकार ॥ १ ॥